भुवि-भूषण-भरत

उर्मिला किशोर

प्रकाशक :

मनीष प्रकाशन

३९७/२२, मीरापुर

इलाहाबाद

मूल्य : बत्तीस रुपये मात्र (रु० ३२.००)

मुद्रक

आकर्ष ग्राफिक्स

डालीगंज, लखनऊ

फोन : ७५३९८

समर्पण

भगवान श्री राम की अनन्य भक्त
श्रद्धामयी परम पूजनीया माता
श्रीमती अनुसुइया देवी को
कोटिशः प्रणाम सहित
सादर समर्पित ।

वन्दना

मंगल निधान, गणपति सुजान ।

सब विघ्न हरो, जीवन पथ के ।

सुख हर्ष भरो, जन-मन विकसे ।

मोदक-प्रिय ! मोदक वितरित हों ।

जग मधुर रहे, मंगल बरसे ।

पद्म भूषण

डॉ० राम कुमार वर्मा

एम० ए०, डी० लिट्०, साहित्य वाचस्पति

साकेत, ४ प्रयाग स्ट्रीट, इलाहाबाद–२११००२–दूरभाष ५२८१६

दिनांक : २०-६-८८

संस्तुति

मुझे यह जानकर सुखद कुतूहल हुआ कि डॉ० श्रीमती उर्मिला किशोर न केवल शिक्षा-विद् हैं अपितु प्रतिभाशालिनी कवयित्री भी है। उन्होंने राम कथा के अन्तर्गत भरत के भुवन-व्यापी चरित्र पर एक खण्डकाव्य की रचना कर हिन्दी काव्य साहित्य को अलंकृत किया है।

कथा का पूर्ववृत्त देने के उपरान्त कवयित्री ने बारह प्रसंगो में भरत की कर्तव्य-निष्ठ भावना का विस्तार से निरुपण किया है। सबसे बड़ी बात जो इस खण्ड काव्य में है वह पात्रों के चरित्र की गरिमा है जो मनोविज्ञान के आधार पर चित्रित की गयी है। सुमन्त, भरत, कैकेई, कौशल्या आदि के मनोभावों की सूक्ष्म भंगिमा तथा घटनाओं की स्वाभाविक प्रगति इस खण्ड काव्य की विशेषता है। रानी कैकेई की ग्लानि का बडा ही स्वाभाविक चित्रण है।

इस रचना पर मैं कवयित्री श्रीमती उर्मिला किशोर जी को हार्दिक बधाई देता हूँ। मुझे पूर्ण आशा है कि भरत के चरित्र के इस मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण का हिन्दी काव्य-जगत् में स्वागत होगा और श्रीमती उर्मिला किशोर भविष्य में इसी भाँति उत्कृष्ट खण्ड काव्य हिन्दी साहित्य को प्रदान करती रहेंगी।

साकेत,
इलाहाबाद
२०-६-१९८८

राम कुमार वर्मा

हे सनेही राम तुम तो प्रेम के आधार हो,
दया, करुणा, क्षमा, समता, शान्ति, सुख आगार हो ।

आमुख

मगलभवन श्री राम की पुनीत कथा भारतीय सम्कृति के विकास की प्रतीकात्मक गाथा है। भारत के सांस्कृतिक और साहित्यिक अभ्युदय में रामकथा का महत्व चिर-स्थायी है। यह समाज के पारलौकिक अभ्युदय का पथ प्रशस्त करती है परन्तु उससे भी अधिक लौकिक अभ्युदय की प्रेरणा स्रोत है।

वाल्मीकि से लेकर आधुनिक युग तक राम कथा की साहित्यिक धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है। राम विषयक असंख्य काव्य रचनाएँ हुई हैं जिनके स्वरूप और व्यापकत्व का पूर्ण अनुमान न लगा सकने के कारण कवियों को "रामायण शत कोटि अपारा" कहकर रामायण की व्यापकता तथा अपनी सीमाबद्धता को स्वीकार करना पड़ा है। राम साहित्य की यह अनन्त रचनाएँ राम तथा सीता के स्वरूप एव प्रभाव का ही वर्णन करती है परन्तु स्व० प० महाबीर प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव से कवि तथा आलोचक उर्मिला के चरित्रांकन की ओर भी आकर्षित हुये। फिर धीरे-धीरे भरत, माण्डवी, कैकेई आदि पात्रो पर भी काव्य रचनाएँ हुई परन्तु यह बहुत अल्प हैं। भरत पर एक महाकाव्य "साकेत सत" के रूप मे लिखा गया है जो बहुत लोकप्रिय है और सुन्दर बन पड़ा है।

इस "भुवि-भूषण-भरत" खण्ड काव्य मे भरत का चरित्र-चित्रण करूण रस प्रधान काव्य के माध्यम से किया गया है। भरत राम कथा के अति उदात्त गुणों मे समलकृत पात्र हैं। राम काव्य प्रणेताओ के लिये उनका विशेष महत्व है। भक्तों के भी वे मार्ग-दर्शक हैं और कवियों की कोमल भावनाओं को जगाने के लिये सहस्र-रश्मि सूर्य है। भरत के बिना राम का अस्तित्व अपूर्ण है क्योंकि भरत के क्रियाकलाप राम के अलौकिक चरित्र को प्रकाशित करते हैं। भरत राम काव्य आकाश में निष्कलक मयक है। दोषदर्शी-दृष्टि राम के चरित्र के किसी अश पर भले ही ठहर जाय परन्तु भरत के पावन चरित्र में दोषदर्शन सम्भव नही है। भरत की "भायप भगति" त्याग, तपस्या, जितेन्द्रियता, करुणा एव सहजता आदि ऐसे गुण है जो संसार में व्यक्ति तथा समाज के लिये आदर्श है परन्तु अभी तक समीक्षकों के द्वारा भरत को अपेक्षित महत्व नहीं दिया गया है। प्रस्तुत खण्ड काव्य भरत के चरित्र को उद्घाटित करता है। उनके चरित्र की पावनता और उदारता प्रकट होती है। इस खण्ड काव्य मे विशेष रूप से यह कहने की चेष्टा की गई है कि भरत मानवता के लिये कल्याण एव मगल के प्रतीक है। उनके मन में धर्म अर्थात् कर्तव्य की भावना तो उदात्त है ही, साथ ही न्याय का पूर्ण समर्थन भी है। उनका करुणा-विगलित हृदय मानव मात्र का कष्ट देखकर द्रवित हो उठता है फिर राम के वन के कष्टों का कहना ही क्या है। इसलिए इस काव्य में भरत करुणा और दया से परिपूर्ण दिखाई पडते हैं।

आज के युग मे भरत के चरित्र का आदर्श अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। वह आज के युग में संसार का मार्गदर्शन करने के लिये अनिवार्य है। ससार के भाईयों को भरत भ्रातृ-धर्म की, सेवकों को सेवक-धर्म की तथा प्रेमी भक्तों को इष्ट आराधना की शिक्षा देते है। काव्य के आदि काल से लेकर अब तक प्रत्येक युग ने भरत रूपी

सूर्य से अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रकाश प्राप्त किया है। नैतिक क्षेत्र मे भरत भारत की अनुपम उपलब्धि है तथा आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रेमा-भक्ति के मार्गदर्शक गुरु हैं। विश्व की सज्जनता के लिये भरत से बढ़कर और कोई आदर्श नही है। सज्जन मानव भरत मानवता की प्रतिमूर्ति हैं। मानवता का धर्म ही सच्चा धर्म है और उसका विकास ही मनुष्यता के लिये आवश्यक है। जो काव्य मानवता के धर्म की स्थापना करता हो वह काव्य पूजा योग्य है इसलिये वाल्मीकि रामायण और तुलसी के राम-चरित मानस की आज तक पूजा होती है।

भरत और राम के चरित्र का चित्रण इस काव्य मे किया गया है। इसमे उनके मानवता सम्बन्धी गुण ही विशेष रूप से उजागर हुये हैं। इस खण्ड काव्य में कैकेयी के चरित्र को भी महत्व दिया गया है। वह राम, राजा दशरथ, कौशल्या एव अवध निवासियों के प्रति राम के वनवास के माध्यम से घोर अपराध करती है, परन्तु उसका पश्चाताप और ग्लानि उस अपराध को क्षमा कराने मे सफल हो जाती है। पाप का प्रायश्चित पाप के स्वीकार करने से बहुत अंशों में हो जाता है। कैकेयी के साथ भी यही बात है। यह प्रयास किया गया है कि यद्यपि नारी जाति का कैकेयी के कर्म से बहुत अपमान हुआ है परन्तु उसका प्रायश्चित उसको क्षमा कराने में समर्थ हो सके।

यह काव्य करूण रस प्रधान है तथा इसमें छन्द भी सीमित रखने की चेष्टा की गई है। जनमन को अगर यह अच्छा लगे तो इसकी उपादेयता समझी जायगी अन्यथा यह रचना स्वान्तः सुखाय तो है ही।

यह काव्य लिखने में मूल प्रेरणा स्रोत मेरे दिवगत पति श्री गिरिराज किशोर जी रहे है। यद्यपि यह काव्य मैंने उनके निधन के ८ वर्ष बाद लिखा है परन्तु इस दिशा में मुझे प्रेरणा उन्ही ने दी है। इस काव्य को लिखते समय मेरी पूज्य माता जी श्रीमती अनसुइया देवी मेरी प्रमुख श्रोता रही है। उन्होंने जिस भाव-विह्वलता से इसको सुना तथा अपने सुझाव दिये हैं वही इस काव्य की निधि हैं। श्रध्देय डा० राम कुमार वर्मा ने इस काव्य का परिमार्जन एवं मार्ग निर्देशन करके मुझे अनुग्रहीत किया है। कवि कर्म की मर्मज्ञता का उपदेश देकर उन्होंने इस काव्य को सुधारा सँवारा है। माननीय शिक्षा सचिव श्री जगदीश चन्द्र पन्त के प्रति मैं हार्दिक रूप से आभारी हूँ क्योंकि साहित्य सृजन की परोक्ष प्रेरणा मुझे उनसे प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त जिन लोगों ने मुझे इस कार्य में परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से सहयोग दिया है उन सब के लिये मैं श्रद्धा से नतमस्तक हूँ तथा आभारी हूँ।

यह मेरा प्रथम और लघु प्रयास है। इसमें जो त्रुटियाँ रह गई हों आशा है उन्हे काव्य मर्मज्ञ क्षमा करेंगे।

उर्मिला किशोर

मंगलाचरण

रघुकुलतिलक विराज रहे, कर्तव्य-विभूषण,
सत्य-शील-सौन्दर्य-सिन्धु मर्यादा-पूषण ।

दया सिन्धु, बलधाम, सौम्य, शुचि वारिजलोचन,
जन-जन के सुखधाम, बंधुप्रिय, दुःख-विमोचन ।

आज्ञा-पालक-पुत्र, धर्मरत स्वामि कृपामय,
वत्सलता आगार, सुप्रभु मानवता-पोषक ।

भरत रहे प्रिय बन्धु, परम पावन मनभावन,
दिया राज्य-पद त्याग, बने वह अनुग सुहावन ।

मृदुल दया की मूर्ति, नियम-संयम-आचारी,
सुभगकान्त अति शान्त, भक्ति-रस-रसिक-विहारी ।

दोहा— मानवता युगबन्धु की, बनी चरित्रादर्श ।
उस पर नित आचरण कर, मिले सुयशयुत हर्ष ।।

पूर्व-वृत

कोशलपति के पुत्र न थे. नव विभु ने उन पर,
कृपा करी दे चार पुत्र, वरसा सुखभू पर ।
चारों थे गुण-धाम, शील विद्या के सागर,
करुणा, दया, विवेक, सुमानवता के आगर ।
पितु के आज्ञा पालक थे. सब विनयशील थे.
वे सूर्योदय सरिस तमसहर उदयशील थे ।
जब किशोर-वय पार चढ़े यौवन देहली पर,
ऋषि विश्वामित्र संग गये, रघुवर औ'' लक्ष्मण ।
वधो नाटिका घोर राक्षसी अति हिंसक थी,
बला अतिबला विद्याये उनको ऋषि ने दी ।
अधिकारी को मिली शक्ति थी सोच समझकर,
दंडित अत्याचार रहे, शासित सब निशिचर ।
विघ्नक था मारीच गिरा उस पार सिन्धु के,
प्रभु शर से था तेज जले साहायक उसके ।
मुनि-मख रक्षा करी, गये फिर जनकपुरी को,
मग में गौतम नारि मिली शापित निज पति से ।
दिया राम ने उसे समादर, हुई प्रतिष्ठित,
पाषाणी शुभ नारि बनी, पहुँची निज पतिघर ।
गये जनकपुर तोड़ शम्भु-धनु, वरी जानकी,
ब्याहे भाई सभी बधू घर आई उनकी ।
रही धूम अति शुभ विवाह की रम्य नगर में,
हास विलास पूर्ण नृप-गृह था भरा मोद से ।

दोहा– भरत शत्रुहन तब गये, निज मामा के संग ।
लगा दुसह था राम को, बन्धु मिलन रसभग ॥

कोशलपति को लगा हुये वे वृद्ध, वृद्धतर,
हों अभिषेकित राम शीघ्र युवराज सुपद पर ।
गये गुरुवर के पास वताया सब निज अभिमत,
वोले गुरु है सुष्ठु, सिद्ध हो जल्दी ही सव ।
थी तैयारी सभी, राम अभिषेक सुमंगल,
कल को निश्चित रहा, किन्तु मंथरा कुटिलतर
वनी मक्षिका घृत की, भर दी कुमति विषमतर
कैकेयी मन मध्य लोभ तव हुआ भयकर ।
करके दुष्ट दुराग्रह माँगे दो वर नृप से
अपने सुत को राज्य राम वनवास ·सुगृह से ।
तापस वेष विशेष राम वन में वनवासी
रहें कि चौदह वर्ष ग्राम और नगर उदासी ।
गए सुप्रभु वन राम साथ सीता और लक्ष्मण
गए समझ निज धर्म रहे कर्तव्य-विचक्षण ।
दशरथ नृप अति दुखित हुये प्रिय पुत्र-विरह मे,
भेजे मंत्रि सुमंत्र राम के साथ स्वरथ ले ।
शृंगवेरपुर पहुँच राम ने कहा मंत्रि से,
"तुम जाओ पितु पास कि वे हैं दुखी विरह मे ।"

दोहा– फिर प्रभु वन को चल दिये, सीता लक्ष्मण साथ ।
तव सुमंत्र गये अवध को, मन में निपट उदास ॥

—०—

मित्र सुमंत्र

प्रिय जब छूट गया तो जगती
सूनी-सूनी हो जाती है
जीवन भार सदृश हो जाता,
हर व्यापार व्यर्थ हो जाता ।

चढ़े राम गुह की नौका पर
तब सुमंत्र की आशा नौका,
डूब गई उस शोक सिन्धु मे
प्रिय वियोग जिसमें गहरा था ।

शिथिल अंग मन मग्न शोक में
रथ पर किसी तरह वे बैठे,
घोडों की रासें हाथों से
परवश सी छूटी जाती थी ।

कैसे वे बतला पायेंगे
प्रियतम राम नही घर लौटे.
कैसे वे समझा पायेंगे
पुत्र नही लौटे माता को ।

दशरथ राजा तो है उनके
पर वे इष्ट मित्र हैं बढ़ कर,
"राम नहीं लौटे" यह कैसे
वह उनको बतला पायेंगे ।

दशरथ के जीवन-धन है सुत,
उनको प्राणों से भी प्रियतर,
शोक ग्लानि से भग्न-हृदय वे
सुनकर प्राणों को त्यागेंगे ।

यही सोचते शोकातुर वे,
कहाँ जा रहे कुछ न ज्ञान था,
भूख प्यास की कौन सुध करे,
उनको भोजन विष समान था ।

तव तक गुह् के भेजे सेवक,
उनको नगरी तक ले आये ।
नगरी वाहर वे संध्या की ।
व्याकुल करने लगे प्रतीक्षा ।

—o—

पुत्र-विरह

रघुकुल गुरु रवि जब चले अस्त होने,
भर गया तमस जब दिशा प्रान्तरों में,
चले मंत्रिवर तब दुखित राजगृह को,
जड़ित हो रहा था विरह शोक में जो।

समय मूक सा था दिशायें अँधेरी,
भवन प्रेत का घर कि छायी उदासी,
सभय वे स्वयं थे मनोभाव ही से,
मिला उस समय जो वही था रुँआसा।

निरख कर सचिव को पवन भी व्यथित था,
सभय वह गया राजगृह में बताने,
कि श्री राम वन से नहीं हाय ! लौटे,
नहीं हाय ! लौटे, नहीं हाय ! लौटे।

कि अवशेष जो आस रह भी गई थी,
सचिव आगमन से मिटी वह तुरत थी।
निरख कर न नृप को भरत मातु गृह में,
गये तब तुरत कौसिला के भवन को।

स्वयं शोक मे दग्ध हो वे रहे थे,
कहे कौन फिर राम लौटे नहीं घर।
बड़ा धैर्य धर कर गये पास नृप के,
कि देखा उन्हें अर्द्ध-चेतन दशा में।

यही रट लगी थी कि "हा सुत ! कहाँ है ?"
सचिव को बहुत दुख हुआ देखकर यह ।
"जयति जय" कहा तब विनत मंत्रिवर ने,
बिठाया उन्हें पास अपने नृपति ने ।

कहा फिर बताओ कि, "घर वत्स लौटा,
नहीं तो सुनाओ सँदेशा सुअन का ।
विना राम के मित्र ! जी न सकूँगा,
सुप्रियतम सुअन ने तुम्हें क्या कहा है ?"

कहा मंत्रि ने "आप धीरज धरे प्रभु !
सुप्रभु राम ने भी निवेदन किया यह ।
कहा है विनययुत परम सुव्रती ने,
'पिता धैर्य धारे अवधि पार होगी ।

कि लौटे सभी हम भवन को कुशल से,
पिता श्री पदों की विनत वन्दना में ।
यही वर शुभाशीष देवें पिता श्री,
रहूँ सत्य पर धर्म पर अब अडिग मैं ।'

कहा मैथिली से सुसन्देश प्रभु का,
विकल वह हुई नैन जल से भरे थे ।
कहा फिर, 'निवेदन यही तात से है,
कि चिन्ता हमारी करें वे न तिल भर ।

सुखी मै यहाँ आर्य-पद साथ में है,
कि वन यह मुझे घर सदृश ही सुखद है।
सुवत्सल पिता श्री बहुत ही दुखित हैं,
सुखी वे रहें तात ! सदुपाय करना।'

लखन से संदेशा नही कह सका मै,
बहुत क्षुब्ध उद्विग्न से वे दिखे थे।
कि वट वृक्ष का दुग्ध ले युग तनय ने,
जटाये तपस्वी सदृश फिर बनाई।

रहा मैं खड़ा देखता ही कठिन उर
चली राम की नाव तब तक वहाँ से।
निषादों का स्वामी गया साथ मे था,
सुपरिचित रहा मार्ग के गह्वरों से।

सुप्रभु राम जब नाव में जा रहे थे,
निरालम्ब निरुपाय मैं हो गया था।"
कहा यह सचिव का गला भर गया फिर
विरह से विकल नृप अचेतन हुये थे।

किया कौसिला ने सदुपचार उनका,
गई चेतना कुछ क्षणों को फिरी थी।
रही दीप की दीप्ति अन्तिम क्षणों की,
कि वह ज्योति निर्वाण अब चाहती थी।

किया कंठ को तब परिष्कृत नृपति ने,
बटोरी सभी शक्ति निज देह की फिर,
कहा कौसिला से बहुत धैर्य धर कर,
कि, "अन्तिम समय देवि ! मेरा निकट है ।

बहुत काल बीता कि तारुण्य में निज
गया मैं किसी दिन कि मृगयार्थ वन में ।
अँधेरी निशा में विषम शब्दवेधी
चलाया, सुना था कि गज शब्द मैंने ।

अमोघास्त्र मेरा गया लक्ष्य पर था,
लगा वैश्य मुनि के तपस्वी तनय के,
निकट जा, निरख उस विगत प्राण को मैं
समझ तब सका था कि घट शब्द था यह ।

मरण के समय वैश्य मुनि के सुअन ने
किया था क्षमा, किंतु व्याकुल पिता ने
बिलपते तड़पते कुशापित किया था,
कि, 'तुम भी मरो शोक से पुत्र के ही ।'

वही शाप मुनि का फलित हो रहा है,
विषम ज्वर विरह का विकल कर रहा है,
कि हा पुत्र ! तेरे बिना अब यहाँ मैं
नहीं रह सकूँगा घड़ी भर कि पल भर ।

कि तेरे लिये यज्ञ मैंने किया था,
कि तुझको निरख मैं सुखी हो गया था,
कि तेरे बिना व्यर्थ है राज्य वैभव,
कि तेरे बिना व्यर्थ है आयु जीवन।

कहाँ है प्रजा का सुप्रभु वह दुलारा ?
कहाँ है कहो नयन तारा हमारा ?
कहाँ है सुप्रिय राम राघव सनेही ?
कहाँ है लखन प्रिय, कहाँ जानकी है ?

बुलाओ उन्हे मै चला विश्व से हूँ,
दिखाओ उन्हे नयन ज्योति वही है,
कहाँ राम रघुवर ? कहाँ राम राघव ?
कहाँ प्राण धन है ? कहाँ राम अब है ?

यही रट लगाते गये भूप सुरपुर,
गये पार दुख, शोक, चिन्ता, विरह के।
विकल राम माता कि रोई बिलख कर,
विकल राजगृह था कि रोया नगर भर।

कटी रात दुख में बिलखते, विलपते,
हुआ प्रात आये सुगुरु ताप हरने।
कही ज्ञान वार्ता, घटा शोक कुछ था,
कि भेजा तभी दूत कैकय नगर था।

आगमन

वरद शम्भु पूजन, महादेव अर्चन,
सुवासित पवन कञ्ज आमोद मे था,
सुधाजित भवन शुभ शकुन नीड सा था,
अमंगल-शमन का सदुपचार वह था।

शिवार्चा हुई, पूत प्रांगण हुआ था,
ध्वनित प्रतिध्वनित दिशि दिशान्तर हुआ था,
सुभग मंत्र स्वर मे शिवोच्चार ध्वनि से,
त्र्यम्बक् यजन् की शिवानन्द गति मे।

हुई आरती सौम्य कल्याणकर की,
सुमंगल-निलय, दुखहरण, सुख-भवन की,
सुकर्पूर मे गौर गौरातिप्रिय की,
प्रणतआर्तहर आशुतोषी वरद की।

भरत पीत-कौशेयधारी विचारी,
रहे आज की अर्चना के पुजारी,
हुई पूर्ण अर्चा मगर खिन्न मन था,
नही हट सका स्वप्न मे भीत चित था।

कुसपना रहा, आह कैसा विकट था,
अभी याद से कंटकापूर्ण वपु था,
हुआ म्लान मुख था भरा स्वेदकण से,
न होता विरत मन दुखद कल्पना से।

गये रात्रि के तीन पद नीद में थे,
विलोका कि दुःस्वप्न पिछले पहर में,
पिता को विलोका खुले केशयुत वे,
बहुत म्लान मे थे फिसलते शिखर मे।

गिरे गर्त में वे, सने गोबरों से,
पुन पी गये तैल भर अंजली में,
तिलोदन चबाते लखा फिर उन्हे था,
लगाने बहुत तैल देखा सवपु मे।

महोदधि गया सूख उनके पतन मे,
गिरा चन्द्रमा टूट सूखी धरणि पर,
उपद्रव हुये घोर नभ छा गया था,
भरत का हृदय देख अकुला गया था।

चकित थे युधाजित, व्यथित अश्वपति थे,
भरत की उदासी दुसह बन गई थी,
विविध रागरग और मनोरंजनो मे,
भरत की हँसी का उपक्रम बनाया।

मधुर उपवनों मे सुकैकय नृपति के,
रहे मोद-आमोद के साज सारे,
मगर वे भरत को लगे कर्ण-कटु से,
कि नीरस बने आज श्रृंगार सारे।

हृदय में मनाते रहे वे सदाशिव,
कि हे प्रभु! अवध में कुशल से रहे सब,
कि कुशली रहे तात रक्षक अवध के,
कि कुशली रहे राम लक्ष्मण हमारे।

इसी बीच पहुँचे चतुर चर वहाँ थे,
भरा शोक दुख से संदेशा छिपाये।
बहुत ही सँभल कर कहा वाहकों ने
कि, "गुरु ने बुलाया बहुत शीघ्र प्रभु को।"

"सुगुरु ने बुलाया कुशल तात तो है?"
कहा यह भरत ने हुआ चित्त चिन्तित।
"कि गुरु का बुलाना कुशकाजनक है,
अवध को कुशल से विधाता रखे अब।"

विनत युग-चरण अश्वपति के छुये तब,
युधाजित सुप्रिय से विदा माँग कर फिर,
सुगणपति सुमंगल-सदन को नमन कर,
चले आर्त उर में कुशंका भरे अब।

चले जोत रथ में पवन वेग घोड़े,
कि अनुपद रहीं भेंट कैकय-नृपति की।
बहुत शीघ्रता से चले जा रहे थे,
पवन को लजाते बढ़े जा रहे थे।

कहा सारथी से कि "जल्दी करो, प्रिय।"
बनाया उसी ने बहुत तीव्र गति है।
बढ़े किन्तु मन तीव्रतर हो गया था,
पहुँच वह गया मातु के प्रिय भवन में।

वहाँ राम लक्ष्मण पिता संग बैठे,
नगर की व्यवस्था बदल कुछ रहे थे।
रही पास तीनों जननि थी वहाँ पर,
भरी मोद में बात कुछ कर रही थी।

सुभग कल्पना पर मग्न हँस पड़े थे,
चतुर मन से द्रुततर कहीं कुछ नहीं है,
मचल ही गया मन सुप्रभु, के चरण पर,
उदित थी हृदय में भवन छवि मधुरतम।

कहा शत्रुघन से "भवन अब पहुँचकर,
मिलेंगे सुप्रभु, तात और भाभियों से,
बहुत दिन गए वे मिलेंगी हमें जब,
बड़ा हास-परिहास होगा अनुज तब।

मगर यह विपथ के शकुन कह रहे हैं,
नहीं तात ! मंगल, अमंगल है आगे।
कि मन सोचता कुछ हृदय कुछ बताता,
भ्रमित चित्त है कुछ समझ में न आता।"

कहा शत्रुघन ने कि, "चलते हुए अब
हमें सात दिन हो गये, सन्निकट है
अयोध्या नगर, रम्य जो उपवनों से,
सजाया, सँवारा, हमारा दुलारा ।

हमें यह सुप्रिय और इसको सुप्रिय हम
अधिक यह मही स्वर्ग से भी हमें है ।
मगर आज उपवन बने है विजन क्यों ?
कहाँ वह अवध की हँसी उठ गई है ?

भवन यह खडे साज शृंगार के बिन,
कहाँ ध्वज कलश औ" पताका कहाँ है ?
मुझे तात अच्छा नही लग रहा है.
सुपरिचित सुजन मौन हमसे मिले हैं ।"

कहा फिर भरत ने कि, "ये श्वान रोकर,
अमंगलजनक शब्द सा कर रहे है ।
कि अब भर गया तात मन भ्रान्तियों से,
भवन शीघ्र पहुँचे, कुशल ईश होवे ।"

पहुँच ही गये राजगृह द्वार पर अत्र,
सुना कैकेयी ने उठी हर्ष से भर,
कि पाद्यार्घ ले मथरा शीघ्र दौड़ी,
सजी आरती मातु करने उठाई ।

बहुत मान–सम्मान से भेंट सुत को,
बहुत प्रेम से ले गई फिर भवन को,
कि पूछी कुशल तात-माता, भगनि की,
कि पूछी युधाजित की क्षेमताई ।

भरत ने कुशलता कही सब स्वजन की,
प्रश्न था फिर जननि ! क्यों अकेली यहाँ हो ?
कहाँ तात, माता, कहाँ बन्धु मेरे ?
उदासी बहुत है नगर में जननि क्यों ?

कहा कैकेयी ने, "कुशल से सभी हैं,
गये तात सुरपुर यही एक दुख है ।"
सुनकर भरत शत्रुघन अति दुखित थे,
कि निश्चेत से वे रहे कुछ क्षणों तक ।

कि करते रहे आर्तक्रन्दन दुखो फिर,
कि, "हा तात ! मुझको गये छोडकर क्यों ?
पिता ! मैं दुलारा बहुत लाडला था,
सुप्रभु राम को सौंप जाते मुझे भी ।"

फिर धैर्य धर कर कहा निज जननि से,
कि "हे अम्ब ! क्या रोग उनको हुआ था ?
गये तात क्यों छोड हमको अचानक,
नहीं राम के हाथ में हाथ सौंपा ?

जननि ! जब पिता सुरपुर को सिधारे,
मुझे वे निजादेश क्या दे गये थे ?
कहा, कैकई ने कि, "धीरज धरो सुत,
पिता दे गये राज्य तुमको अवध का ।

कि अब वृद्ध थे वे गये यश कमाकर
सुखों के सभी भोग भोगे सुप्रिय ने ।
परितृप्त जीवन जिया तात ने था
रहे भाग्यशाली मिले पुत्र तुम से ।

कि उनके लिये शोक सतप्त मत हो,
करो राज्य शासन मिटाओ प्रजा दुख ।
कि आदेश उनका तुम्हें बस यही था,
कि भोगो सभी सुख करो पुत्र शासन ।"

भरत ने सुना और विस्मित हुये वे,
कि "श्री राम राजा बने क्यों नही रे,
सुअग्रज के होते हुए फिर अनुज को
अवध राज्य सारा दिया तात ने क्यों ?

कहा जब जननि, मे, सुनाया उसी ने,
शुभ कर्म अपना कि दुष्कर्म अपना ।
उसी ने बताया गये (राम वन) को,
कि दो वर लिये थे नृपति से उसी ने ।

उसी ने बताया कि प्रिय मंथरा ही,
सहायक हुई राज्य को माँगने में.
वही तो बेचारी रही एक उनकी,
सभी जब विरोधी बने दिख रहे थे ।

कि गर्वित भरत की जननि ने कहा फिर,
"सुअन ! आज शासन व्यवस्था सम्हालो ।
कि यह गौरवान्वित महत् राज्य अब तुम
बिना तर्क के वत्स, अधिकार समझो ।"

सुना सब भरत ने, व्यथित हो गये वे,
गहन शोक-वन में दुखी खो गये थे.
कि आहत ये ज्यों शबर-शर लगा हो
हरिण के कि, वह छटपटाया यथा हो ।

बहुत देर तक चेतना खो गई थी,
जननि देख कर उस समय डर गई थी ।
उठी वह कि उपचार मूर्च्छित भरत का,
किया चेतना लौट आई उन्हें फिर ।

बडी वेदना से कहा तब उन्होंने
कि, "हे चण्डि ! तूने किया क्या विषमतर ,
अरी विषभरी वे विषैले युगल वर
कढ़े क्यों कुमुख से विकटतम भंयकर ?

द्विरसने ! नही खा गई तू मुझे ही,
सरल तात को तू कुटिल खा गई है।
अरी राम को भेजकर घोर वन में.
किया अब मुझे है निपट ही निराश्रित।

सनेही पिता को बना स्वर्गवासी,
बनाया मुझे पितृघाती अपावन।
किया है भला क्या मुझे तू बता दे
कि मेरे पिता बन्धु दोनों ही छीने।

सुप्रभु जब गये वन तनिक भी न सोचा,
वनों में पयादे ही कैसे चलेंगे ?
विना पाँवड़े जो चले ही नही थे,
कठिन भूमि पर पाँव कैसे रखेंगे ?

अहो ! राजसुख में सदा ही रहे जो,
विषम दुख भरा वन वे कैसे सहेंगे ?
पिता और माता, प्रजा को परम प्रिय,
सदा धर्मरत जो प्रजा के सुवत्सल,

वही राम राघव, वही सर्व-रक्षक
तुझे त्याज्य थे वे, तुझे क्या हुआ था ?
जनकनन्दिनी जब चली साथ में थी,
अरी वज्रहृदये ! नही तूने रोका।

चली वह पयादे, नही तूने सोचा,
कि कंटक भरे मग मे कैसे चलेगी ?
कि वह राजपुत्री, वधू इस सुगृह की,
सुप्रभु की प्रिया पूज्य भाभी हमारी,

विपम वन्य कष्टों मे कैसे रहेगी,
कमल सी सुकोमल वही राजरानी ?
कि तेरा हृदय वज्र का ही वना है,
नही वह फटा दृश्य-कारूण्य लखकर ।

लखन जव गया मग प्रभु का सुभ्राता,
नही आर्द्र वनकर मनोभाव जागा ।
स्वकर्तव्य-पथ पर चला वह अनुज था,
कुसमय सहायक वह सच्चा मनुज था ।

वधू उर्मिला घर अकेली रहेगी,
सुप्रिय के विना हाय ! कैसे रहेगी ?
विरह दीर्घ तूने उसे दे दिया है,
विपम पाप तूने मुझे दे दिया है ।

सुप्रभु वन सहें शीत, आतप कि वर्षा,
रहें ठाठ मे हम रहे चित्त हर्षा ।
तुझी में कुटिल स्वार्थ की जड जमी है,
अभागी कुटिलता तुझी से पली है ।

नही तू है नारी पिशाचिन निरी है.
कि नारी हृदय की सुकोमल रही है ।
दया, धर्म. ममता, सुकरूणाकलित उर,
ललित भावना से भरा नारि का उर ।

ममता भरी नारि पावन वह्नि है,
कर्तव्यरत श्रेष्ठ अर्धांगिनी है,
दया और ममता सुपूरित जननि है,
कि श्रध्दामयी प्रेम की मूर्ति वह है ।

कि उस नारि के पद सभी आज तूने
कलुषित किये लोभ के द्वेष के वश ।
हुई तू है अभिशप्त. अब युग-युगों तक,
कभी नारि तुझको क्षमा ना करेगी ।

कि कैसा भयानक हुआ लोभ तुझको
नही पुत्र देखा न देखा ही पति को ।
अगर राज्य का लोभ इतना अधिक था,
मुझे तो बताती कि शत राज्य देता ।

नही एक जग में अवध राज्य ही था
अभागी न तेरा तनय कुछ निबल था ।
अरे यह न सोचा कि पतिवध कलुषतम
लगा है तुझे, नृप मरे है तड़पकर ।

मुझे पितृघाती कहेंगे सभी अब,
मुझे भ्रातृद्रोही कहेंगे सभी नर,
मुझे राज्यलोलुप कहेंगे मनुज सब
मुझे क्रूर निष्ठुर कहेंगे सभी अब ।

कलुष मे पुता मुख कहाँ अब दिखाऊँ ?
कि है कौन सी दिशि जहाँ भाग जाऊँ ?
ढहाया यह पर्वत कुअघ का मुझी पर,
किया पात्र तूने कुयश का मुझी को ।

जगत में सुविख्यात था नेह द्वारा
सुबन्धुत्व, सम्मान, गौरव हमारा ।
अरी ! भइयों में यह विष बीज तूने
क्यों बो दिये ? मातु है या कहूँ क्या ?"

क्षुभित थे भरत ग्लानि उनको हुई थी,
रहे मौन कह कर, बहुत कह लिया था ।
मगर शत्रुघन का हृदय जल रहा था,
कि परिणत हुआ शोक अब क्रोध मे था ।

इसी बीच उनको दिखी मथरा वह,
सजी और सँवरी कि स्वागत में थी वह,
उसे देख रिपुहन भभक ही उठे थे,
कि पद से प्रहारित गिरी भूमि पर वह ।

भरत ने छुड़ाया दया के भवन से,
कहा फिर कि, "दासी कुटिल बुद्धि है यह,
कि अपराध तो है जननि का हमारी,
उसे दण्ड दे तो सुप्रभु क्षुब्ध होंगे।

चलो अब इसे छोड़ माता भवन को,
वही अब सुजननी हमें शान्ति देगी,
बहुत वह दुखी है कि पति-पुत्र हीना,
चलें हम मिलें, वह न हों और दीना।"

———

पश्चाताप

'कड़ी भर्त्सना की क्षुभित जब भरत ने,
गये त्याग उसको भवन कौसिल्या के,
हुई ग्लानि भारी भरत मातु को तब,
उठी भाव झंझा बड़ी वेदनामय।

"अहो! जिस भरत के लिये राज्य माँगा,
गया राम वन को मुझे नृप ने त्यागा,
वही यह भरत आज क्रोधित हुआ है,
मुझे त्याग कर कौसिल्या गृह गया है।

अगर राज्य का लोभ इसको नहीं था,
परोसा हुआ थाल इसको बुरा था,
वृथा ही गया सर्व आयास मेरा,
हुआ हाय! पर के सदृश पुत्र मेरा।

कि इतना बड़ा राज्य औ" यह उपेक्षा,
सुपद और अधिकार की ना अपेक्षा,
मिले राज्य का त्याग इतना सरल क्या?
सुखद राज्य वैभव रहा अब नहीं क्या?

जगत में अभीप्सित अभी राजपद है,
पर इस तनय ने तजा वह स्वयं है,
भरत का हृदय आज इतना बड़ा है,
नहीं जान पाई उसे मैं अभी तक।

नहीं चाह थी राज्य की कुछ मुझे भी,
कि रानी रही इस वृहत् राज्य की मैं,
चला चक्र शासन भृकुटि रेख पर ही,
वही मैं बनी आज कुत्सित, उपेक्षित।

क्या यह भरत ठीक ही कर रहा है?
क्या मैं अधम और दुर्बुद्धि ही हूँ?
अरी मंथरा तू कुटिल बुद्धि क्यों है?
सरल कैकेई को कुटिल कर गई क्यों?

मुझे क्या पता था कि सुत के विरह में,
मरेंगे नृपति सत्य वे कह रहे थे।
निठुर मैं रही वे सदय ही रहे थे,
कुटिल मैं रही वे सरल ही सदा थे।

रही माननी मैं सदा सुप्रिया थी,
परम प्रेम उनका मुझी को मिला था,
कि मेरे लिये वन दिया प्रिय सुअन को
स्वय वे गए हाय! उसके विरह में।

कि उत्सर्ग शीला स्वयं मैं रही थी,
कि निज प्राण-पण से उन्हें चाहती थी।
कि जब चेतनाहत समर में हुये नृप
चलाया स्वयं रथ कि जीवन बचाया।

नभी से अधिक नृप मुझे मानते थे,
महत् प्रेम मेरा सुपहिचानते थे।
पर हाय ! जो वर दिये उस समय थे,
वही प्राणघातक बने इस समय थे।

हुई यूँ विषम क्यों बनी मैं अभागी,
दुसह द्वेष की ज्वाल क्यों मुझमें जागी ?
कहाँ वह गया हाय ! पति प्रेम मेरा ?
कहाँ वह गया शील सौजन्य मेरा ?"

रूदन फिर किया ग्लानि से भर गई वह,
स्वपति के विरह में विकल हो गई वह।
कि विधवा हुई थी उसे आज भासा,
जगत से उठे नृप उसे आज भासा।

कि वैधव्य की ज्वाल कितनी कठिन है,
हृदय है सुलगता धुटन ही घुटन है।
वही दुख स्वय ले लिया कैकेई ने,
स्वयं ही गरल पी लिया कैकई ने।

कि जिसकी विषम ज्वाल में अब जलेगा,
अवशेष जीवन कि सुख स्वप्न होगा।
नही वह समादर कभी मिल सकेगा,
स्वपति से सहज ही उसे जो मिला था।

विगत प्रेम की सुख भरी आज बातें,
हृदय सालती थीं मरसपूर्व घातें।
कहाँ जाय किससे कहे उर विकल था,
बना वह भवन तक उसे कष्ट प्रद था।

कि रोती रही शोक, दुख ग्लानि में वह,
उर सिन्धु था मग्न, बरसे नयन थे।
निज कृत्य उसको सभी याद आये,
कि लज्जित बहुत थी कहाँ मुँह छिपाये।

"सुप्रिय पुत्र राघव को जब वन दिया था,
नहीं नेह का पूर्व परिचय रखा था।
कि सबसे अधिक मानती मैं उसे थी,
भरत से अधिक जानती मैं उसे थी।

बड़ा वह विनत, मृदु, बहुत वह सरल था,
दिया था विपिन फिर भी हँसता रहा था।
स्वयं भेज ऐसे सुअन को विजन में,
नही मैं रही माँ कि वह पद कहाँ अब।

मृदुल जानकी जब चली संग उसके,
नहीं मैंने रोका नहीं भाव जागे,
बहुत क्षुब्ध लक्ष्मण गया साथ में था,
मगर चित्त मेरा नही जग सका था।

कि है आज वे सब वनों में भटकते,
कि फलमूल खाते कि भूखे ही रहते।
अधम मै अधम मूल हूँ आपदा की
अहो पाप भागी बनी अयशी मैं।

विधाता ! कि यह जन्म ही क्यों हुआ था ?
बड़ा घोर पातक सजग हो किया है ?
कि दुर्बुद्धि ऐसी मुझे क्यों हुई थी,
कि क्यों लोभ की पंक में फँस गई थी।

बहुत है कठिन उर अरे ! ग्लानि सहकर,
बचा है अभी फट गया क्यों न सत्वर।
अहो है बिगाड़ा स्वयं भाग्य अपना,
गँवाया स्वयं हाय ! सर्वस्व अपना।"

भरत की जननि आह रोती रही फिर,
थमे ही नहीं अश्रु उसके कभी फिर।
कभी सोचती थी कि वन को चलूँ अब,
मना लूँ सुअन को अवध को फिरूँ तब।

कभी सोचती वन विपथ है, अगम है,
अकेले मुझे राम मिलना कठिन है,
कभी सोचती राम करुणा-निलय है,
करेगा मुझे पार दुख से अवश ही।

रही सोचती राम के ही विषय में,
भरत के नहीं, राम के ही विषय में,
कि भूले भरत, मथरा सब उसे अब,
उदित थी सुमन में प्रबल राम की रट ।

स्वयं आज हँसती स्वय आज रोती,
रही वह अकेली हो आँचल भिगोती,
वहुत थी विकल माननी राजरानी
नहीं थम रहा था नयन जल सुमानी

हुई आज थी दीन वह सिंहनी भी
रही जो कभी दर्पिता माननी थी,
दुखों से व्यथित म्लान विक्षिप्त चित था,
भवन में अकेले कटा रात दिन था ।

भले मे हुई भूल भारी कभी जब,
रही रात दिन सालती वह मृदुल उर,
कि चुभता रहा शर सदा भूल का निज,
रहा मौन मुख किंतु रोया मुखर उर ।

ग्लानि

भरत जब गये कोसिला के भवन मे,
नहीं सह मके दुख-दशा वे जननि की ।
वहुत देह दुर्बल, रहे नेत्र सूजे,
वड़ी दीन थी जल विना मीन जैसी ।

गिरे वे धरणि पर युगल दण्डवत् थे,
उठाया जननि ने हृदय से लगाया ।
सजल नयन बरसे भरत के निरन्तर,
जननि का हृदय भी उमड वह चला था ।

सुमित्रा वहाँ शत्रुघन की सुजननी,
रही पास उनके, उन्होंने सँभाला ।
वडे कष्ट मे वोल पाये भरत तव,
कि. "माता कहाँ तात हैं तू वता दे ।

कि उनके सनेही सुवत्सल करों का
अव स्पर्श हे माँ ! मुझे तू करा दे ।
कहाँ राम भैय्या सुप्रभु अब हमारे ?
कि भाभी सिया के तू दर्शन करा दे ।

कहाँ है लखन लाड़ला हम सभी का,
कहाँ है सुकर्तव्यरत वह अनुज अब ?
कि धिक्कार मुझको वड़ा हूँ तदपि मैं,
स्वकर्तव्य में आज पीछे रहा हूँ ।

हुआ कैकेयी कोख से जन्म मेरा,
बना मैं सकल शोक का आज भाजन ।
बड़ा क्रूर हे अम्ब ! मैं हो गया हूँ,
कि मैं राज्य-लोलुप यहाँ आ गया हूँ ।

अभागा कुयश-पात्र मैं आज हूँ माँ !
कि कारण सुप्रभु राम के वनगमन का ।
पिता के निधन का बना आज कारण,
अखिल पातकों का विधाता बना हूँ ।

कि दोषी खड़ा हूँ यहाँ अम्ब तेरा,
मुझे दण्ड दे तू नही तो स्वयं ही,
कि दण्डित करूँगा स्वयं को अभी मैं,
वहुत ग्लानि माता मुझे हो रही है ।"

कहा, "कोसिला ने तुझे वत्स ! दोषी
कहेगा उसे शाप मेरा लगेगा ।
किसी दोष की कल्पना वत्स ! तुझमें
नहीं हो सकेगी निरपराध तू है ।

स्वयं सूर्य इस कुल के साक्षी सदा है,
कि हे वत्स ! तू निष्कलंकित उन्ही सा ।
कि जैसे तमस हर रहे वे जगत का
कि तू वत्स होगा मनुज-दोषहारी ।

नही वत्स दोषी रहा कोई मेरा,
स्वय भाग्य मेरा ही रूठा मुझी से.
कि पति स्वर्ग में है, विपिन सुत गया है,
कि हतभागिनी मै कुशल से यहाँ हूँ ।

नृपति थे सुवत्सल, गये राम के बिन,
कि बैठी रही देखती मै यहाँ सब ।
बड़ा धैर्य है सुत तभी तो दृगों ने
देखा सजग हो विवासन तनय का ।

पिता के निजादेश से पुत्र मेरा,
गया तात ! बन को, बना पूर्ण निस्पृह ।
तजा राज्य फिर भी नहीं खिन्न मन था,
कि जैसे विपिन ही रहा इष्ट उसको ।

सुना जब चली साथ मे वह सिया भी
कि जो चित्र के सिंह, कपि से भी डरती
बहुत मैं मनाती रही किन्तु पति बिन
नहीं वह रुकी तात ! उजडे भवन में ।

गया साथ लक्ष्मण सुप्रिय था उसे वह,
सुकर्तव्यरत था, सुधर्मज्ञ था, वह ।
गए राम के साथ कुछ दूर तक थे,
सचिव वर, मगर वे अकेले ही लौटे ।

गये भूप फिर स्वर्ग पुण्यस्पृहा वे.
कठिन वज्र सा उर लिये मैं यहाँ हूँ ।"
कहा. राम जननी विकल गिर पड़ी थीं.
सँभाला भरत ने, कहा शोक में भर.

कि, "हे मात ! यदि राम के वनगमन में.
तनिक सा भी मेरा कहीं हाथ होवे.
नरक में जलूँ तो जननि युग-युगों तक,
न उर शान्त हो यह, न परित्राण होवे ।

अहो मैं विवश हो शपथ कर रहा हूँ
कि जग में बड़े से बड़ा पाप जो हो.
उसी का लगे फल, विधाता ! मुझे, जो
सुप्रभु वनगमन में तनिक मन रहा हो ।

किया विश्व प्रतिकूल जो अघ जननि ने
वही सालता उर रहा है निरन्तर ।
मुझे खेद है माँ ! जननि के किये का
कठिन दण्ड भागी बना आज मैं हूँ ।

विषम वर लिए कैकई ने पिता से,
कि होकर विवेकी गये मान वह भी
कि क्यों दन्त तोड़े नहीं विष भरे वे,
कि विष की भरी जीभ मुख में रही क्यों ?

किया था बहुत प्रेम उसको पिता ने
कि विश्वास उस पर किया भी बहुत था ।
उन्हें क्या पता था कि वह मृत्यु उनकी
स्वयं माँग लेगी, बड़ी ही अधम है ।

ज्वलित लोभ ने अब लगाई दवानल,
हुए भस्म हम हैं, कि घर जल गया है ।
जला आज उपवन हरा इस अवध का,
प्रजा का हृदय माँ हहर जल गया है ।

हुए हाय ! शापित दुखी सब प्रजा है,
कि रघुकुल प्रजा तो सुखी सर्वदा थी ।
कठिन कैकई उर, कठिन मैं स्वयं हूँ,
दशा देख तेरी अभी जी रहा हूँ ।''

कहा कौसिला ने ''दुखी वत्स मत हो,
कि तेरा सदाशय प्रकट हो गया है ।
तुझे राम प्रिय है, कि तू राम को प्रिय,
प्रशंसा स्वयं तेरी करता रहा वह ।''

कटी रात व्याकुल सशोकित कथा में,
रुदन में, कि अभिव्यक्ति में घोर दुख की ।
बहुत दीन होकर विलपते रहे सब,
तभी ज्ञान की ज्योति ले गुरु पधारे ।

बताया सुगुरु ने, "जगत पूर्ण नश्वर,
कि जो जन्म लेना है मरना अवश ही,
कि जो मर गया है पुनः जन्म लेगा,
अमिट चक्र चलता सदा ही रहेगा।

कहा फिर कि कर्तव्य सबसे बड़ा है,
सुकर्तव्य में आत्म–सुयश छिपा है।
वही धर्म भी है कहाता मनुज का
स्पृहा से रहित मोक्ष साधन वही है।

समय गत रहा वत्स ! कर्तव्य भी है,
करो तुम वही जो उचित जिस समय हो।
इस समय वत्स ! कर्तव्य यह है तुम्हारा
करो आज अन्त्येष्टि पूजित पिता की।"

भरत ने सुनी पूज्य गुरु की सुवाणी
उठे धैर्य धर कार्य करने पिता का।
भरी तैल नौका वहाँ पर रखी थी
सुरक्षित रहा शव उसी में नृपति का।

किया कार्य वेदोक्त विधि से सभी था,
सश्रद्धा प्रणत वे हुये थे पिता को।
बहुत पुष्प बरसे नृपति की चिता पर,
परम सत्य का वह समादर हुआ था।

सकल ग्लानि, दुख, शोक, श्रद्धा, समादर,
भरत मन बना उस समय भावसागर ।
तरंगित रही राम कि प्रेम धारा
उसी ने बढ़े ज्वार को था सँभाला ।

दिये दान जी भर लुटाई विविध निधि,
हुई आत्मतुष्टि कि पितु को गया सब ।
यही कर्म अन्तिम पिता के लिये था,
सुकृतज्ञ सुत का यही धर्म भी था ।

निश्चय

गुरु वसिष्ठ ने शुभ घड़ी थी विचारी,
जुड़ी सब सभा राजदरबार मे थी।
कहा, गौरविन राजगुरु ने भरत से,
कि "हे वत्स! शासन करो तुम व्यवस्थित।

महाराज तुमको स्वयं दे गये है,
अवध राज्य सारा इसे तुम सँभालो।
जिसे दे पिता राज्य उसको मिला है,
जगत में यही रीति प्रचलित रही है।

यही धर्म सम्मत सुधर्मज्ञ समझो,
पिता का महादेश अब सिर धरो तुम।
तजे राम जिसने किया सत्य पूजित,
तजे प्राण फिर राम के ही विरह में।

उन्हे सत्य प्रिय था, नही प्राण प्रिय थे,
करो तात आदेश पालन उन्ही का।"
कहा कौसिला ने विवेकी भरत से,
कि, "हे पुत्र! गुरु का शुभादेश मानों।

पिता स्वर्ग मे है, गया राम वन को,
तुम्हीं वत्स! पालक बचे हो अवध के।
प्रजा पालकर दुख हरो देश का अब,
दुखी तुम बहुत हो मगर धैर्य धारों।"

भरत ने सुनी मातु की मंजु वाणी,
सुना पूज्य गुरु का शुभादेश भारी,
कि व्याकुल हुए, धर्म संकट घिरा था,
कि अनुराग प्रभु का उधर खींचता था ।

उठे फिर सभा में जुड़े कर कमल थे,
कहा अति विनत मातु, गुरु से उन्होंने,
कि "मैं हूँ अभागा, बना आज कारण,
पिता के निधन का, सुप्रभु वनगमन का ।

चले कंटकाकीर्ण वन में सुकोमल,
चरण, जो चले थे सदा पाँवड़ों पर ।
कि जानकी कृपा दृष्टि के हेतु आकुल,
रहे थे सदा भूप सामन्त सारे ।

वही राम मेरे, सुप्रभु, बन्धु मेरे,
फिरें अब भटकते भयानक वनों में,
कि भोजन बिना वे भले सो गये हों,
कि मैं राज्य वैभव विविध भोग भोगूँ ।

सुप्रभु राम अग्रज बड़े सब तरह हैं,
गुणों में, कि वय में, कि बहु योग्यता में,
कि रघुकुल मुकुट अग्रज को मिला है,
कि है न्याय से राज्य यह राम का ही ।

कि जन-जन हृदय में बसे राम ही हैं,
कि व्याकुल प्रजा आज उनके लिए ही,
सुप्रभु राम लोकप्रिय हैं बहुत ही,
कि है न्याय से राज्य यह राम का ही ।

कि मैं बन्धु छोटा, सभी भाँति छोटा,
कि मैं राज्य भोगूँ, रहें वे वनों में ।
कि धिक्कार है ऐसे राज्यपद को,
कि है न्याय से राज्य यह राम का ही ।

जननि ने कुवरदान में यह लिया है,
पिता ने विवश हो मुझे दे दिया है,
विवशता भरा दान लौटा रहा हूँ,
कि है न्याय से राज्य यह राम का ही ।

सदा ही भरत के रहे इष्ट प्रभु वे,
रहा दास उनका सदा यह भरत है,
कि अनुराग बसता भरत का उन्हीं में,
कि उनकी चरण-रज मुझे पावनी है ।

कि जब तक रहेंगे सुप्रभु अब वनों में,
जनकनन्दिनी कष्ट तब तक सहेगी,
कि जब तक लखन वत्स व्रत में रहेगा,
कि तब तक भरत भी रहेगा व्रती हो ।

रहा धर्म जग में सपूजित अकेला,
मनुज को मनुज से मिले प्रेम आदर,
मनुज के दुखों से दुखी हो मनुज जब,
दया और करुणा का संचार हो तब।

यही धर्म है मानवों का सुपूजित,
यही धर्म है इस भरत का समादृत,
यही धर्म है इस जगत का सुरक्षक,
टिकी है धरणि मानव-धर्म ही पर।

पिता के मरण का मुझे शोक कम है,
अधिक कष्ट है राम के वनगमन का,
कि मेरे परम प्रिय सुप्रभु वन बसे जब,
कि मैं राज्य भोगूँ बना अति अधम सा।

बड़ी आज शोकित प्रजा राज्य की है,
दुखी सब स्वजन सखिगण भी दुखी है,
दुखी राम-जननी बहुत शोक में है,
बिना राम के सब दुखी ही दुखी है।

कि उपचार इस शोक दुख का यही है,
कि उपचार इस ग्लानि संताप का यह,
कि मेरे हृदय की सुख शान्ति का भी,
सदुपचार, प्रभु का भवन लौट आना।

विना पाद-पंकज सुप्रभु के विलोके,
मुझे ताप ही ताप है विश्व भर में,
कि संताप मेरा तभी दूर होगा,
मिलेगी चरण-रज मुझे पावनी जब ।

कि विश्वास दृढ़ है क्षमाशीलता में,
सुप्रभु की मुझे, वे सदा ही सदय हैं,
पिता अब नहीं हैं, पिता से अधिक वे
मुझे त्राण देंगे कि पालन करेंगे ।

कि मेरे सुप्रभु शीलसौजन्य-निधि है,
कि वे दीन के बन्धु, करूणानिलय है,
मुझे त्राण देंगे अवश ही कृपानिधि,
जननि के किये को कभी न गिनेंगे ।

किया है सुनिश्चय यही आज मैंने,
कि कल प्रात ही मैं चलूँ राम के वन,
अवध राज्य उनको करुँगा निवेदित,
कहूँगा कि अब तो सुप्रभु धाम लौटें ।

चले आप भी यदि उचित आप समझे,
नहीं तो अकेले विपिन मैं चलूँगा,
कि अनुरोध मेरा सफल हो सकेगा,
सुगुरू और माता अगर साथ देवें ।"

भरत की सुवाणी वनी मत्र अब थी,
प्रभावी हुई सब सभा पर प्रजा पर,
कि दुख मे जड़ित लोग जी मे उठे थे,
कहा तब 'भरत जय, सुप्रभु-बन्धु की जय।

ध्वनित था गगन में सघन नाद जय का,
हुआ शान्त, तब राजगुरु भी सगद्‌गद्
हुये, प्रेम मे डूब बोले भरत से,
"भरत धन्य हो, धन्य मानव तुम्ही हो।

कि शिष्यत्व मेरा किया है सुफल, प्रिय!
कि दी है जगत को दिशा आज तुमने,
कि तुमने दिया आज आदर्श जग को,
सुबन्धुत्व का, त्याग का, वर मनुज का।

भरत कीर्ति होगी अमर यह तुम्हारी,
कि तुमने प्रजा को दुखों मे उबारा,
भरत तुम दुखी हो, मगर दुख-हरण हो,
कि प्रस्ताव अनुमोदित यह तुम्हारा।"

तब हुई विसर्जित वह शुभ सभा थी,
गये लोग गृह को बहुत हर्ष में भर।
कि घर-घर नवोत्साह था वनगमन का,
सुप्रभु मे मिलेंगे यही लौ लगी थी।

—०—

भूल सुधार

सुना कैकेई ने भरत वन चला है,
सुप्रभु को मनाने, उन्हे घर लिवाने ।
लगी सोचने वह कि मै भी चलूँ वन,
प्रतीकार करने अधम अघ किये का ।

रही घोर मशय सकुच मै फँसी वह,
"भरत साथ लेगा मुझे या न लेगा ।
किया घोर पातक भरा कालिमा से,
भरत को जगत में किया घोर लज्जित ।

भरत ग्लानि दुख, शोक, लज्जा भरा अव,
हुआ वत्स मेरा वहुत दीन कातर,
कि जिसके लिये प्राणपति की उपेक्षा
हुई थी मुझी से, कि सब अघ किये है ।

वही आज व्याकुल व्यथित रो रहा है
कि माता नही, हा ! कुमाता बनी मै ।
सुप्रिय था मुझे राम उसको ही मैंने
दुर्बुद्धि में पड विवासन दिया है ।

मरी मंथरा क्यों बसी थी भवन मे
सपत्नीजनित द्वेष उसने उभारा
सरल थी वहिन कौसिला पर स्वयं मै
कुमति मे पडी थी, नहीं सत्य देखा ।

कि है वत्स श्री राम करूणा-भवन ही
पर अन्ध अध यह बहुत घोर मेरा ।
सुधर्मज्ञ क्या वह क्षमा अब करेगा
यदपि है क्षमा से परे दोष मेरा ।

कि अपने किये को सहज भाव से मैं
स्वीकार कर लूँ, क्षमा माँग लूँ अब ।
कि वह वत्स मेरा, दयामय बहुत है,
मुझे वह क्षमा ही करेगा कदाचित् ।

स्वयं वन दिया था सुदृढ़ सत्यव्रत को,
स्वयं प्रत्यावर्तित उमे मैं करुँगी ।
स्वयं राज्य छीना कि अभिषेक के दिन,
उसे राज्य अभिषेक अब मैं करूँगी ।

कि होगा सुलघु प्रायश्चित घोर अघका,
सुप्रिय पुत्र मेरा भवन लौट आये ।
करो देव ! अब स्वर्ग में ही क्षमा तुम,
सुप्रिय राम मेरा भवन लौट आये ।

यही सोचती वह गई घर भरत के,
गहन रात्रि में थी निपट ही अकेली ।
बहुत थी वह लज्जित, बहुत ग्लानि में थी,
कि है पाप भंजक स्वयं अघकी स्वीकृति ।

कहा सब भरत से हृदय में रहा जो,
भरत भी दया से द्रवित होगये थे।
कहा, "ठीक है, अब चलो वन मनाने,
सुप्रभु को कि अपराध जिनका किया है।"

गई कैकेई लौट अपने भवन को,
हृदय में तनिक शान्ति उसके हुई अब।
फिर रात भर स्वप्न लखती रही वह,
सुप्रभु राम के और जनक नन्दिनी के।

—०—

प्रस्थान

जगे सब प्रहर रात अवशेष थी जब,
उठे राम दर्शन की अभिलाष लेकर ।
भरत ने बुलाये सजग दक्ष प्रहरी,
उन्हें सौंप दी फिर सुरक्षा अवध की ।

भली-भाँति रक्षित नगर को बना कर,
चले गौरि, गणपति, सदाशिव मनाकर ।
"सुप्रभु घर पधारे विनत प्रार्थना कर,
कटें पाप, मंगल रचे विष्णु भुवि पर ।

रथारूढ होकर चले गुरु प्रथम ही,
चलीं सब जननि पुत्र के प्रेम में ही ।
चले सब सुहृद्वर, सचिवगण, सभासद्,
पयादे भरत तब चले साथ दलबल ।

चले अश्व, गज साथ रथ भी चले थे,
चले भृत्यगण साथ कर्त्तव्यरत थे ।
कि अभिषेक का साज भी साथ में था,
सुनिश्चित सुअभिषेक वन में सुप्रभु का ।

सभी के हृदय में लगी लालसा थी,
सुप्रभु कब मिलें कष्ट सबके मिटें कब ।
मिले मार्ग में जन, चकित हो रहे थे,
अयोध्या-चूम यह कहाँ को चली है ।

उन्हें ज्ञात होती कि जब यह कहानी,
गये राम वन को अनुज साथ रानी ।
भरत अब उन्हीं को मनाने चले है,
अनुज-धर्म अपना निभाने चले हैं ।

पयादे चले, राम पैदल गये है,
फलाहार पर हैं, कि प्रभु वन बसे हैं ।
अनुज का सुकर्त्तव्य पूरा किया है,
मनुज का सुकर्त्तव्य पूरा किया है ।

जय-ध्वनि सकल मार्ग में भर रही थी,
कि श्रध्दावनत शिर नमन कर रहे थे ।
कि सुनते भरत राम के शुभ सुयश की,
सुगाथा भरी कर्म आदर्श की वह ।

सुनी फिर उन्होंने सुखद पुण्यशीला,
कथा वह सुयशपूर्ण अपने किये की ।
हुआ चित्त कुछ शान्त, ग्लानि मिटी कुछ,
मगर थे सुप्रभु कष्ट फिर याद आये ।

विविध भावरत ही कटा मार्ग वह था,
कि आये किनारे सुभग देवसरि के ।
हुए सब प्रफुल्लित निरख दिव्य जल को,
कि उतरे श्रमित सब वहाँ रात भर को ।

—०—

मित्रता

सुना यह गुहा ने कि गंगा किनारे,
भरत हैं पधारे चूम साथ में है ।
वहुत अश्व गज हैं, वहुत साथ रथ है,
पयादे सजे हैं, सुविस्तृत सुदल है ।

उसने विचारा सुप्रभु वन अकेले,
गये साथ में बस लखन सुव्रती है ।
अगर निष्कपट है भरत का हृदय तो,
चूम साथ में क्यों चली आ रही है ?

सुलभ जो हुआ राजपद है भरत को,
बनाना उसे चाहते वे अकंटक ।
बड़ा है बहुत राज्य का लोभ भाई,
भरत हैं तनय तो कैकेई माई ।

स्वय राजपद की मदासक्ति वह है,
कुमति दे, कुअघ दे, कुयश दे किसी को ।
कि निर्लेप को भी दृढ़ासक्त कर दे,
घृणित लोभ, छल और हिंसक कपट में ।

भरत का मनोरथ मैं फलने न दूँगा,
भले प्राण मेरे चले आज जायें ।
सुदृढ़ आन मेरी कटें सिर भले ही,
सुप्रभु पर तनिक आँच आने न पाये ।

सुभट आज केवट जुड़े सब यहाँ पर,
कि रण में नहीं पाँव पीछे रखें वे ।
सुप्रभु राम का नाम लेकर समर में,
भरत को चुनौती भली आज देवें ।

बहुत रोष में वह भरा था सुभावुक,
कहा, "घाट रोको कि नावें डुबा दो ।
नहीं जा सकेंगे भरत पार गंगा,
कि उनसे समर मै यहीं आज लूँगा ।"

कहा एक परिपक्व वय के सुधी ने,
कि, "नायक हमारे सुमुखिया तुम्हीं हो,
मगर जो करो सोच कर ही करो प्रिय,
किया बिन विचारे वही शोकप्रद है ।"

सुधी के वचन सुन सकुच कर गुहा ने,
कहा वृद्ध का ज्ञान अनुभव जनित है ।
प्रथम पास जाकर मैं गन्तव्य जानूँ,
भरत का, तभी बात कुछ बन सकेगी ।

चला भेट लेकर भरत से मिलन को,
मधु मत्स्य फलमूल भर-भर सुकाँवर ।
बहुत कुछ सकुचता चला जा रहा था,
भरत के लिये पूर्व की भावना से ।

भरत ने लखा गुह चला आ रहा है,
कहा मंत्रिवर ने कि, "यह मित्र ही है।
सखा राम का यह परम भक्त उनका,
बड़ा प्रेममय मित्रता में सुदृढ है।"

सुना यह भरत ने कि रथ से उतर कर,
चले प्रेम आतुर गुहा से मिलन को।
उन्हें आस थी कुछ समाचार प्रभु का,
श्रवण यह कहेगा इसे सब पता है।

भरत को निरख दूर से ही गुहा ने
दण्डवत् लेट भुवि पर सहज वन्दना की।
सखा राम का देख वत्सल भरत ने
उसे खींच बरबस हृदय से लगाया।

कई बार उसकी कुशल क्षेम पूँछी,
मधुरतम प्रशंसा सखाभाव की की।
कहा, "राम के तुम सनेही सखा हो,
सुप्रिय तुम उन्हे और भी प्रिय मुझे हो।"

गुहा ने भरत का मृदुल भाव देखा,
तथा देखकर राम अनुराग उनका,
पुलकपूर तनु भावविह्वल हुआ वह
भरत-रंग मे पूर्ण डूबा सुभावुक।

विनय की भरत से कि, "आतिथ्य ले लो,
सनेही सुजन वास विश्राम कर लो,
चलेंगे सुप्रभु की कुटी पर सभी हम,
कि प्रातः करें पार गंगा तरंगा।"

टिके सब वहाँ पर अयोध्या निवासी
सँजोते रहे स्वप्न प्रभु से मिलन के।
उधर प्रेम में भर भरत प्रिय गुहा से
रहे बात करते सुप्रभु वास-वन की।

"सुप्रभु रात में थे इसी वृक्ष नीचे
यही पर लखन ने रची साथरी यह,
सिया औ" सियावर यही रात सोये,
कि नंगी कुशा पर नहीं कोई पट था।"

गुहा के वचन सुन हुआ दुःख भारी,
सके सह न उसको स्वसुधि ही बिसारी,
बड़ा धैर्य धर कर कहा यूँ सखा से,
"हृदय है कठिन वज्र मेरा सुहृद्वर!

जनकराजपुत्री, सुप्रभु की अवनि पर
कुशा-साथरी लख फटा जो न अब तक।
कंटकाकीर्ण पथ पर चले वे पयादे
बिना पाँवड़े जो चले ही नहीं थे।

जनकनन्दिनी राजसुख में पली जो,
कभी जो चली ही नहीं धूप में थी,
वही आज वन-वन भटकती फिरी है,
सहन शीत आतप कि ओले सभी में ।

सुप्रभु का विवासन हुआ मेरे कारण
विषम दुख उठाये मेरे ही कारण ।
जन्मा ही क्यों मैं जगत में, विधाता !
मुझे घोर अघ और अपयश बदा था ।"

बहुत शोक था उस समय उन व्रती को,
विषम वेदना थी सहन से परे थी ।
तभी त्राण देने ज्वलित तप्त उर को
नयन घन सदृश हो बरस ही पड़े थे ।

कहा तब गुहा ने कि, "धीरज धरो प्रभु !
सुप्रभु की परम प्रीति तुम को मिली है ।
बड़े प्रेम में भर प्रशंसा तुम्हारी
स्वयं रात भर राम करते रहे थे ।

लखन वीर तो एक प्रहरी सदृश ही
रहे जागते जैसे निधि के सुरक्षक,
कि मैं साथ था वे बताते रहे थे,
"भरत धर्म पालक, भरत भ्रातृवत्सल ।"

सुफल प्रेम की पावनी बात ही में
कटी रात थी, नयन झपके नही थे ।
उठे भक्त प्रभु के, चलीं पार नावे,
चले जब भरत गंग पावन हुई थी ।

—०—

परीक्षा

चले, गुह सखा साथ में ही चला था,
सुप्रभु की सुचर्चा में कटता समय था ।
इसी भाँति आगे बढ़ आ गये थे
सुभग तीर्थपति पर सुपुण्यस्थली पर ।

बड़ा ही मनोरम बड़ा भव्य दर्शन
प्रयागाधिपति का बना पुण्यमय था ।
विलक्षण छटा थी, बहुत नेत्र रंजक
मिलन की यमुन की सुवर्णी बहिन से ।

कहीं श्याम लहरें, सुश्यामा यमुन की
मिली गौर गंगा की लहरों में जाकर,
कहीं राम सीता की छवि सी मनोहर
तरंगें धवल श्याम शोभा लुटाती ।

भरत ने विलोकी मनोहारिणी छवि,
सुभग राम सीता नयन में समाये ।
प्रणत हो भरत ने युगल वन्दना की
हुये वे प्रणत फिर सुतीर्थाधिपति को ।

उन्होंने स्वमन में यही प्रार्थना की
उस पुण्यस्थली में "सुप्रभु धाम लौटें ।
रहूं मैं उन्हें प्रिय कि जैसा सदा था,
कुअघ और अपयश स्वयं देव छूटें ।"

यही कामना कर रहे थे प्रजागण
सुप्रभु धाम लौटे भरत ग्लानि छूटे।
श्रमित थे पथिक किंतु लख पुण्यमय जल,
हुये वे विगत श्रम कि सुखमय हुए थे।

शुभ-स्नान कर भेट अक्षय सुवट को
प्रजागण सुकृतकृत्य सब हो गये थे।
भरत और शत्रुघ्न सादर चले तब
भरद्वाज ऋषि से शुभाशीष लेने।

प्रथम ही सुधी ऋषि ने यह सुन लिया था,
भरत राज आये है लेकर सुदल बल,
सशंकित हुए किंतु स्वागत किया था,
अर्घ्य पाद्य देकर सुआसन दिया था।

कुशल-क्षेम पूँछी अभ्यागत भरत से,
हँस कर कहा फिर कि" हे वत्स ! क्यों तुम
विजन को चले आज लेकर सुदल बल ?
क्यों कर रहे, वत्स ! आयास इतना ?

तुम्हें राज्य पितुवर स्वय दे गये है,
अवध राज्य प्रिय ! तुम व्यवस्थित बनाते।
कहाँ जा रहे अब विपिन में निरर्थक,
कि तुम धर्म अपना भवन में निभाते।

सुऋषि के वचन में कुशंका ध्वनित थी,
उसे शुचि भरत ने सुव्यंजित सुना जब,
उठे तिलमिला चोट ऐसी लगी थी,
प्रणत किन्तु बोले विनत धर्मधारी,

"प्रभो! आप तो है त्रिकालज्ञ ऐसे
कि मन के सभी भाव नित जानते हैं।
स्वकर पर रखे आमलक के सदृश ही,
यह विश्व द्रष्टव्य हैं नित्य प्रभु को।

कि जब आपने प्रश्न मुझसे किया यह
सदाशय भरत का जगत में सुऋषिवर,
कहो कौन समझे विचारे यथावत
निपट हूँ अभागा, कुयश ही बढा है।

जननि की कलुष-ग्लानि मुझको बहुत है।
हुआ लोभ वीभत्स उसको भयानक,
कि सुत को विपिन भेज पति स्वर्ग भेजा,
स्वयं ही अयश तात! उसने लिया है।

जननि को ही दोषी कहूँ आज मैं क्यों,
स्वयं को अधिक पातकी मानता हूँ।
गये राम वन को कि मेरे ही कारण,
कठिन कष्ट उनको उठाने पड़े नित।

जनकनन्दिनी कंटकीर्ण पथ पर
चली आह ! पैदल कि मेरे ही कारण ।
लखन से दुलारे सुभग बन्धु का मैं
बना हूँ अभागा त्रिविध दुःख कारण ।

पिता के निधन का भी कारण बना मैं
प्रजा को यह संताप मुझसे मिला है ।
हृदय का कठिन हूँ, निरखकर सभी दुख
नहीं फट गया उर कि जीवित रहा हूँ ।

कहा यह विकल वे बहुत हो रोए थे,
कि ऋषि ने बहुत सान्त्वना दी उन्हें थी ।
बहुत वेदना में कहा फिर भरत ने,
"सुप्रभु को मनाने विपिन को चला हूँ ।

परम प्रिय मुझे वे सदा से रहे हैं,
बहुत प्यार मुझको उन्होंने किया है ।
बड़े सौम्य है वे कि मुझ पातकी को
क्षमा वे करेंगे अवश्य ही करेंगे ।

अगर वे अयोध्या न लौटे कदाचित्,
भरत भी निकट उनके वन में रहेगा ।
प्रभो आप मुझको शुभाशीष देवें,
कि श्री राम अब लौट आयें अवध को ।"

कहा यह भरत फिर प्रणत हो गये थे,
हृदय भर गया अश्रु बरबस बहे थे।
"तुम्ही राम प्रियतम सुविश्वास रक्खो।"
ऋषि ने कहा, "तात ! संताप छोडो।

उसी रात श्री राम कहते रहे यह,
'नहीं है जगत में भरत सा सुभ्राता,
कि मुझमें अचल प्रेम है उस अनुज का,
बड़ा ही दयामय सुधर्मज्ञ वह है।'

भरत धन्य हो तुम कि श्रीराम मुख से
स्वयं इन श्रुतों ने प्रशंसा सुनी है,
कि तुम भ्रातृ-वत्सल बड़े ही सुभ्राता,
कि भावज्ञ तुम भावना के सुत्राता।

कि जो त्याग कर्तव्य तुममें बसा है,
वही तत्व है तात धर्मज्ञता का।
कि जो प्रेम जो भक्ति तुम में बसी है,
अनुपम सुआदर्श है वह अनुज का।

भरत युग युगों तक कथा यह तुम्हारी,
कहेगी सदा मानवों की सुवाणी।
अमर बन रहेगी सुकृति यह तुम्हारी,
सराहा करेगी तुम्हें सृष्टि सारी।"

भरत के गुणों और धर्मज्ञता से,
हुये सौम्य ऋषि थे वहुत ही प्रभावित ।
पुलकपूर तनु था नयन अश्रुपूरित,
गुणों की मधुरता से पूरित हुआ मन ।

भरत मे कहा, "वत्स ! आतिथ्य ले लो,
थके हो यहाँ रात्रि विश्राम कर लो ।"
भरत ने झुकाया विनत शीश आगे,
वरद हस्त अपना मुऋषि ने बढ़ाया ।

फिर कल्याण-घन की सुवर्षा हुई थी,
मभी ने अलौकिक सुखानन्द पाया ।
सुदुर्लभ अतिथि का आतिथ्य दुर्लभ,
स्वतप मे रचाया था पूज्य ऋषि ने ।

अमर लोक मा सुख व वैभव वहाँ था,
अयोध्या निवासी वने देवता से,
कटी वह सुरजनी, चले उठ सवेरे
भरे मुख सुमन में कि उत्साह मन में ।

—०—

मिलन

चली सेन सीधे जहाँ राम निवसे,
चले थे भरत उन व्रती को मनाने ।
भरत प्रेम-विह्वल, भरत प्रेम-आतुर,
भरत राम के थे विरह्-वाण-व्याकुल ।

थकित थे चरण पर पता ही कहाँ था
श्रमित हो गये है कि छाले पडे है ।
नहीं देह की सुध कि हो भी कहाँ मे
सुमन तो बसा राम के श्री पदों में ।

यही ताप था, "राम के कष्ट का मै,
बना हूँ अभागा सकल शोक कारण ।
अभागी कुमाता विषमता वनी थी,
नहीं थे कि वरदान अभिशाप वे थे ।

कही नाम मुझ अपयशी का श्रवण कर,
चले जायँ न वे समझ कर कुटिलता ।
अगर मिल गये तो मिलेगा परम पद,
कि मेरे परम पद वही है, वही है ।

मुझे छोड़कर वे कहाँ रह सकेंगे,
मुझे प्यार उनका सदा ही मिला है ।
सुनेंगे कि आया भरत दास उनका,
उमडते हृदय मे सुवत्सल मिलेंगे ।

हृदय से सदय वे सदा ही रहे हैं,
बहुत लाड़ सब भाइयों का किया है ।
कि हारा भरत खेल में था कभी जब,
जिताया उन्होंने, बड़े सौम्य हैं वे ।

सकल ताप संतापहारी धरा पर
नहीं एक उनसा कहीं भी मिलेगा ।
मिलेंगे अवश वे मुझी से मिलेंगे,
भले अपयशी मैं सकल शोक कारण ।"

यही सोचते जा रहे थे सुप्रेमी,
भरत भाग्य थे, पुण्य थे इस धरा के ।
अगर वे न होते कुटिलता धरा से,
कहो कौन हरता, सुधा यूँ लुटाता ।

सुभग राम पर्वत दिखा सामने जब,
हुये रोम हर्षित चरण-डगमगाये ।
स्वयं गति प्रगति के सुपथ पर बढी थी,
चले वे चढे उस सुछवि की अटा पर ।

जहाँ, दीखते थे चरण-चिन्ह प्रभु के,
वहीं पर भरत भूमि पर लोट जाते ।
कि कहते चरण-रज बड़ी वत्सला है,
बहुत पावनी है, बहुत शान्तिदायनि ।

भरत की दशा देख कर वह गुहा भी
चकित हो रहा था, द्रवित हो रहा था ।
अनुज का अडिग प्रेम ऐसा धरा पर
न देखा कभी था सुना तक नहीं था ।

भरा भाव में वह कि भूला डगर भी,
कहाँ जा रहा था पता कुछ नहीं था ।
कहा शत्रुहन ने, "बिना लीक के हम
कहाँ जा रहे है पता तो लगा लो ।"

सुना यह गुहा ने बढ़े लीक पर सब
पहुँच ही गये अब सुप्रभु की उटज पर ।
पहुँच कर हृदय की मिटी ग्लानि सारी,
हुये वे सुखी ज्यों हुआ लाभ भारी ।

वर्नी वेदिका मृत्तिका की मनोहर,
सुखविधाम राघव विराजे उसी पर ।
सिया पार्श्व बाये लखन दाहिने थे,
तपोधन विराजे हुये सामने थे ।

सुर्चाचित भरत उस समय हो रहे थे,
कि दल-बल सहित आ रहे वे यहाँ है ।
कि वाहन बहुत साथ में वे लिये हैं,
मगर आप पैदल बिना छत्र के हैं ।

कहा राम ने, "वह सरल, उर मृदुल है,
मुझी को मनाने चला आ रहा है।
बड़ा भ्रातृ-वत्सल, बड़ा धर्म सम्मत,
भरत आज शृंगार है इस धरा का"।

भरत-भाव में प्रभु तनिक खो गये थे,
कि तब तक भरत सामने आ गये थे।
प्रणत दण्डवत् वे धरा पर पड़े थे,
"प्रभो त्राहि माम्" बस यही कह रहे थे।

उठे राम सुनकर, बढ़े प्रेम विह्वल,
कहाँ तीर धनु था, कहाँ पीतपट था।
उठाया अनुज को हृदय से लगाया,
निर्धन का धन यह स्वयं अंक आया।

मिले दो हृदय प्रेम परितृप्त होकर,
कि आनन्द-घन था, परब्रह्म सुख था।
कि वह सुख अतीन्द्रिय अगोचर बना था,
कहाँ शब्द-सामर्थ्य वर्णन करे जो।

बड़ी देर तक प्रभु हृदय से लगाये,
रहे बन्धु को ज्यों समाधी लगी हो।
भरत राम की यह दशा देखकर तो,
तपोधन सुऋषिगण चकित थे थकित थे।

धरा धैर्य फिर प्रभु मिले शत्रुहन से,
कि वह भी अनुज प्राण-प्यारा उन्हीं का।
मिले फिर भरत लाड़ले उस लखन से,
कि जिसका सदाशय प्रकट सर्वदा था।

जनकनन्दिनी की चरण-धूलि सिरपर,
भरत ने धरी प्रेम-श्रद्धा विनत हो।
वड़ी पावनी थी सुमंगलमयी रज,
हुई पुण्यमय मेदनी उन कणों में।

भरत जानकी को प्रफुल्लित निरखकर
हुये हर्ष निर्भर कि अपभय मिटा था।
सिया ने निजाशीष सानन्द देकर,
उन्हें ग्लानि से मुक्ति का सुख दिया था।

वड़ा धैर्य रख कर सुप्रभु से गुहा ने
कहा साथ गुरु के सुजननी पधारीं।
चले शीघ्र रघुवर अनुज को वहाँ रख,
कि सीता प्रतीक्षा कुटज में करेगी।

मिले राम गुरु से प्रणत हो सश्रद्धा
परम प्रेम उनका इन्हीं को मिला था।
कि माता सभी देख कर जी उठी थी,
बड़े भाग्य से वत्स उनके मिले थे।

स्वजन साथ लेकर चले प्रभु उटज को,
सुनयनी सिया सास से आ मिली थीं,
कि उनकी दशा देखकर रो पड़ी थीं,
कमलनी-तुषारावृता रानियाँ थी ।

जनकनन्दिनी फिर मिली भगनियों मे
उर्मिला की दशा देख बरसे नयन थे,
वह कंचन सी काया रही मात्र छाया
भगनि को निठुर अति विरह दुख हुआ था ।

पिता के निधन का समाचार प्रभु ने
सुना दु.ख-संतप्त वे अति हुये थे,
कि वह दिन उसी शोक मे ढल गया था
पितर कार्य कर वे हुए शुद्ध फिर थे ।

जनक का आगमन

विचरते रहे तीन दिन तक नवागत
सुरमणीक गिरि पर भरे मोद मन में।
जुड़ी फिर सभा इष्ट मन्तव्य लेकर,
यही चाहते सब कि लौटें सुप्रभु घर।

विनत राम बोले सभा में सुगुरु से,
झरे पुष्प मानो वहाँ पर सुरभियुत,
कि, "गुरुवर हरे आप परिताप सबका,
बहुत कष्ट पाया यहाँ आ सभी ने।

प्रभो! तीन दिन हो गये है सभी को
विविध कष्ट सहते फलाहार करते।
प्रजागण श्रमित हैं, बहुत दूर आये
सभी घर फिरे अब, प्रभो! यदि विचारें।"

कहा, सौम्य गुरु ने कि, "क्या कह रहे हो?
तुम्हीं वत्स! हो अब हमारे सहारे।
बड़े दूरदर्शी, बड़े भ्रातृ-वत्सल,
बड़े सत्यव्रत तुम, बड़े धर्मपालक।

कि जो तुम करोगे, वही धर्म होगा,
तुम्हारा वचन लोक-मंगल रचेगा,
तुम्हीं वत्स! कल्याण के मार्गदर्शक
रहोगे युगों तक जगत पथ-प्रदर्शक।

भरत, मंत्रिगण और सुहृद्, सब प्रजा भी,
सुधी वत्स ! तुमसे निवेदन करें जो,
अगर प्रिय लगे तो करो राम ! उसको,
रहे किंतु हित भी निहित इस जगत का ।

प्रिय भरत दुखी ग्लानि से हो रहा है,
तुम्हारा विपिनवास कारण बना है ।
करो राम ऐसा दुखी यह न होवे,
विनत की विनय अब विचारणीया ।''

कृपासिन्धु ने सोचकर, कुछ सकुच कर,
कहा जो वही सार था भद्रता का,
''भरत बन्धु ! अपना अभीप्सित कहो अब,
करूँगा वही जो तुम्हें इष्ट होगा ।''

सुना यह भरत इस तरह डगमगाये,
कि नौका फँसी हो नदी के भँवर में,
कि कैसे करे क्या उसे जो निकाले,
स्वयं को उबारे, प्रजा को उबारें ।

''दयानिधि, कृपासिधु प्रभु ने हमारे,
दिया है मुझे आज ऐसा सुअवसर,
कि जो मैं कहूँगा वही वे करेंगे,
बनेंगे सभी काम बिगड़े हमारे ।

मगर यह सुकर्तव्य मेरा बना है,
कि श्रीराम रुचि पर सदा ही चलूँ मै ।
बहुत कष्ट झेले उन्होंने, सदय वे
सदा ही अनुग्रह बनाये रहे हैं ।''

यही सोच कर फिर भरत ने सभा मे
प्रणत हो निवेदन किया इष्ट ज्यों ही,
समाचार आया कि आये जनक जी ।
उठे शीघ्र राघव उठी वह सभा भी ।

महाराज आश्रम सदल थे पधारे,
वसिष्ठादि ऋषि की विनत वन्दना की ।
मिले राम नत हो सुपूजित श्वसुर से,
मिले इष्टतम गाधि के पुत्र ऋषि से ।

मिली जानकी तात औ' मातु से फिर
लगाया हृदय से, जनक ने सराहा ।
कहा, ''पुत्रि ! तू पावनता स्वय है,
हुये धन्य दोनों महत् कुल तुझी से ।

स्वपति की विजन मे सहायक हुई तू,
अर्द्धांगिनी पद हुआ पुत्रि ! सार्थक ।''
तभी उर्मिला आ मिली मातु से थी,
दशा देख उसकी विवश रो पडी वह ।

कहा, "पुत्रि ! तेरी तो समता नहीं है,
भुवन चौदहों में अधिक त्याग तेरा।
स्वपति तप करे त्याग कर सुख विपिन मे,
कि तू तप करे त्याग कर सव भवन में।

दिया पति को सम्बल स्वकर्तव्य में है,
बड़ी संयमी तू बड़ी पति-परायण।
उर्मिले ! सत्वती तू, परम है विवेकी,
कि वत्स ! दिशा दम्पति-प्रेम को दी।

रहेगी अमर कीर्ति तेरी धरा पर,
कि वधुये करेंगी कथा-गान तेरा।
किसी को विरह का कुशर जब लगेगा,
तुझे याद कर पीरा से वह तरेगा"।

विकल फिर हुई माँ नहीं बोल पाई,
सभी बेटियों को हृदय मे लगाया।
सभी मे मिली तन सुनयना सुरानी,
विनयशीलता कोमिला ने वखानी।

मिले थे बहुत दुःख-कातर सभी तव,
मिले थे परस्पर बहुत शोक व्याकुल।
सदुपदेश उनको सुगुरु ने दिये तव,
हुई शान्त ज्वाला कटी रात वह थी।

सभा

जुडी फिर सभा राम आश्रम निकट नव,
तपोधन मुऋषिगण विवेकी सचिव सव ।
जनकराज से ब्रह्म ज्ञानी वहाँ थे,
मुवात्सल्य की मूर्ति जननी वहाँ थीं ।

सभी के नयन वस भरत पर टिके थे,
कि अवलम्ब मब के वही दीखते थे ।
मभी के हृदय में यही वात भारी,
कि लौटे अवध प्रभु बने वात मारी ।

विचारा, कहा मौम्य ऋषि ने भरत से,
कि, "हे वत्म ! अपना सुमन्तव्य अव तुम,
कहो वन्धु से, वे सदा ही सदय है,
हृदयगत् मभी भाव वे जानते है ।"

भरत ने विनयनत सुप्रभु को निहारा,
थके पोत को दृष्टिगत था किनारा ।
प्रणत वे हुये, भाव-विह्वल हुए थे,
परिष्कृत किया कंठ तव वोल पाये,

"कृपानिधि बहुत कष्ट प्रभु ने उठाये,
श्रमित पाँव नंगे यहाँ आप आये,
वसन चीर पहिने जटा जूट धारे,
कि अभिषेक के दिन मिले कष्ट सारे ।

हुआ यह सभी हाय ! माता के कारण
कि रघुकुल मुकुटमणि को आना पड़ा वन ।
हमारी ही भाभी सिया राजरानी,
फिरी इस विपिन में बिना पादत्राणी ।

हुआ हाय ! यह सब, रहा सुन अभागा,
नयन से विलोका, न जीवन ही त्यागा ।
निठुर हूँ, निठुर हूँ कि पाषाण उर हूँ,
प्रभो ! त्राण दे दो बहुत ही समय हूँ ।"

कहा यह भरत ने विलख वे उठे थे,
हुऐ प्राण व्याकुल सभासद् व्यथित थे ।
द्रवित राम ने फिर हृदय से लगाया,
नयनवारि से सींच उनको बिठाया ।

धरा धैर्य, प्रभु ने कहा तब भरत से,
"अनुज तुम रहे हो सदा प्राणनिधि से ।
तुम्हारा सदाशय स्वयं जानता मै,
तुम्हारे हृदय को सुपहिचानता मैं ।

सुकोमल-कलित-कान्त तव भावना को,
हृदय की मनोहारिणी वृत्तिका को,
सभी जानते है यहाँ सभ्य आगत,
कही भी नही तुम सरीखा सुमानव ।

भले विश्व की सब जुड़े नित भलाई,
नही वह तुला पर तुम्हें तौल पाई।
भरत यह टिकी है धरणि धर्म-धुरि पर,
तुम्हारे विनय की, सुदृढ़ नीतिनय की।

तुम्हारे सनेही सुवत्सल हृदय की
कहाँ से करेगा मनुज कोई समता,
कि आये यहाँ तुम विमुखी सब सुखों से
हृदय मे तुम्हारे भरी प्रेम ममता।

भरत ! तुम वृथा ग्लानि मे गल रहे हो,
बिना दोष के तुम दुखी हो रहे हो।
सुमाता को दोषी वही जन कहेंगे
सुजन की सभा में कभी न रहे जो।

भरत ! तुम सदा से सुकर्तव्यरत हो,
सुधर्मज्ञ तुम नीति-मर्मज्ञ तुम हो।
कहो निज अभीप्सित अनुज इस सभा में,
करुँ मै वही सुख मिले प्रिय तुम्हें अब।"

सुना यह भरत ने हुये शान्त वे थे।
सभा ने समुत्सुक लगाये श्रवण थे।
समुत्सुक समीरण, समुत्सक गगन था।
समुत्सुक बना उस समय देवमन था।

भरत को सहारा मिला प्रार्थना की,
सुप्रभु से विनत हो महत् याचना की,
"सुप्रभु धाम लौटें, भरत वन रहे अब,
सुप्रभु का अभीप्सित वन में करे सब ।

सुप्रभु वन बसें औ, भरत राज्य भोगे,
सुप्रभु चीर में हों भरत क्षौम पहिने,
सुप्रभु कन्द फल खा जटाजूट धारें,
भरत राजभोगादि को ही विचारे ।

कि धिक्कार उस राज्य पद को स्वयं है,
कि धिक्कार ऐसी सुखासक्ति को है,
कि धिक्कार है राज्य-वैभव भवन को,
कि धिक्कार है तो स्वयं ही भरत को ।"

कहा यह भरत मौन फिर हो गये थे,
कि वे ग्लानि-दुख-सिन्धु में पड़ गये थे ।
सुप्रभु राम ने बाँह पकड़ी उबारा,
कि अनुराग रंजित हृदय में उतारा ।

कहा राम ने फिर भरत को मनाकर,
कि, "कर्तव्य सबसे महत् है महत्तर ।
कि अग्रज अनुज निज कर्तव्य देखें,
पिता के सुआदेश को श्रेष्ठ लेखें ।

इसी बीच में तब भरत मातु बोली,
कि मन की व्यथा की गहन गाँठ खोली,
"चलो वत्स ! घर को कि रूठो न मुझसे,
कि मैंने तुम्हें वन दिया था कुमति मे ।

यही वह दुराग्रह-परिणाम मेरा,
हुआ नष्ट मब सुख कि सौभाग्य मेरा,
चिता की सुज्वाला अधिक शान्ति देती,
मुझे यह ज्वलित ग्लानि सहनी न पडती ।

महामोह ने नेत्र अंधे किये थे,
भरत ने जगाया तभी खुल सके थे ।
तुम्हें विपिन भेजा कि तुम प्राणप्रिय थे,
सुप्रियतर भरत मे मदा तुम रहे थे ।

कि तुम वन अकेले चले तब सिया भी,
चली साथ में वह सुकोमल कली भी,
चला छोड सब कुछ लखन सा सुभ्राता
नही किन्तु मेरा भ्रमित चित्त जागा ।

कुटिल मंथरा की भ्रमित वात से मैं
कि दुर्भाव मे, द्वेष से जल उठी थी,
कि संशय हुआ था, भ्रमित मैं हुई थी,
कि संशय का उपचार जग में नहीं है ।

ज्वलित आज उर है, बड़ा कष्ट है सुत !
स्वयं का दिया पुत्र ! अभिशाप है यह, !
कि यह कष्ट बढ़कर है उस वेदना से,
पिता की चिता के दहन मे हुई जो ।

कि तुम लौट कर अब चलो, वत्स ! घर को,
प्रतीकार कर दो मिटाओ किये को
कि मैं मातु तुमसे विनय कर रही हूँ,
वही वत्स मेरे कि मैं माँ वही हूँ ।"

सुना राम ने यह हृदय भर गया था,
भरे अश्रु माँ से उन्होंने कहा था,
कि, "माता वृथा तुम दुखी हो रही हो,
वन आगमन से व्यथित हो रही हो ।

कसौटी यही थी सुकर्तव्य की, माँ !
कि सोना तुम्हारा खरा सिद्ध है, माँ !
हमें पुण्य-पथ यह तुम्ही ने दिखाया,
हमें यह सुयश-पथ तुम्ही ने बताया ।

स्वयं ग्लानि सह कर दुसह दुख उठाकर,
हमें मातु तुमने सुमानव बनाया ।
कि जाने अजाने सुजननी तुम्हीं ने
हमें श्रेय पथ पर सदा ही चलाया ।

मनुज की सुछवि माँ तुम्ही ने सुधारी,
दिया विश्व को यह भरत धर्मधारी।
बनी धन्य धारणी भरत भाव से है,
इसी के सुकृत से बने धन्य हम हैं।

कि रघुकुल-कमल-कीर्ति का सूर्य यह है,
हमारे विमल वंश का मान यह है।
तुम्हीं तो जगत-पुण्यशीला जननि हो
भरत की जननि तुम, जगत निधि तुम्हीं हो।

जगत में सभी सुख क्षणिक है सुमाता!
नहीं भाग्य का निज बना पर विधाता।
अहो, यह विवासन नही माँ हमारा,
बना कार्यस्थल विपिन है हमारा।

अयश का गरल माँ तुम्ही ने पिया है,
अखिल विश्व-कल्याण शिव सम किया है।
कि माँ! यह मही आज है धन्य तुम से,
गलो मत सुमाता वृथा ग्लानि, भय से।"

सुप्रभु का कथन सुन द्रवित सब सभा थी,
महत् की महत्ता सुविस्मयकरी थी।
कि गुण-ग्राहिणी-शक्ति अद्भुत उदित थी,
क्षमाशीलता भूमि मे भी वृहत् थी।

सभी ने कहा, 'राम सचमुच सुप्रभु है,
हृदय-तापहारी क्षमा के भवन हैं।
दुखी मातु मन के चुने ग्लानि कंटक,
भरत के हृदय में भरा प्रेम आसव।'

भरत की जननि ने कुछ शान्ति पाई,
हृदय ज्वर घटा चैनी की श्वाँस आई।
भरा था गगन धन्य की ऊर्ध्व ध्वनि से,
भरी थी मही सात्विकी भावना से।

सुस्पष्ट थी आज उर की बड़ाई,
पवन गा रहा गीत उर की भलाई।
धवल थी दिशायें सुप्रभु के सुयश से,
मुखर थी प्रजा राम के गान गुण में।

भरी मेदिनी दिव्य आदर्श से थी,
अमर भी चकित दिव्यता से मही की।
विधाता चकित सृष्टि उसकी रची सब
मगर राम सा एक भी था कहाँ कब।

कहा फिर भरत ने सुप्रभु से विनयनत,
"कृपाधाम ! मेरा यही आज अभिमत,
सुप्रभु के बिना राज-सुख है निरर्थक,
सुप्रभु के विना धाम तक है निरर्थक।

प्रभो ! घर चलें बस निवेदन यही है,
हरें भार जन का वहुत अव व्यथित है ।
अवध राज्य है न्याय से प्रभु तुम्हारा,
इसे अव सँभालें हरें कष्ट सारा ।

सुअभिषेक का साज लाया प्रभो ! मैं,
सफल वह करें नाथ ! करबध्द हूँ मैं ।
कृपा इस भरत पर करें अब कृपामय ।
गहन ताप मन का हरे अव दयामय ।

हुआ आज मैं आर्त इतना अधिक हूँ,
कि क्या कह रहा हूँ नही जानता हूँ ।
जहाँ जो उचित हो उसे नाथ देखें,
मुझे निज अनुग ही सदा आप लेखें ।

प्रभो ! आप पालक पिता से अधिक हैं,
सरस प्रेम के सार माँ से अधिक हैं ।
कृपानिधि सुप्रभु भाव सब जानते हैं,
हृदय की दशा नाथ पहिचानते हैं ।

वहुत कह लिया है, सुप्रभु ने सुना सब,
मिले नाथ आज्ञा प्रतीक्षा-निरत अब ।
जहाँ जो जिसे आप देवें सुआज्ञा,
वही इष्ट हो, वह स्वकृति हो मनोज्ञा ।"

भरत ने कहा किंतु फिर रो पड़े वे,
अश्रु ने कह दिया बिन कहा रह गया जो।
कि करूणा कलित राम उर भर गया तब,
हुई देह पुलकित भरे अश्रु थे तब।

उठाया अनुज को हृदय से लगाया,
सुप्रभु ने निकट फिर उन्हें था बिठाया।
कहा, "हे भरत ! तुम बहुत सौम्य शुचि हो,
सुकर्तव्यरत हो कि आज्ञा निरत हो।

मनुज का यही धर्म कर्तव्य पाले,
भले अति कठिन हो कठिन ही निभा ले।
नहीं सत्य से कुछ बड़ा विश्व में है,
कि ईश्वर स्वयं सत्य में बस गया है।

पिता सत्यव्रत थे बहुत सौम्य शुचि थे,
स्वप्राणों से बढ़कर मुझे चाहते थे,
कि मुझको तजा पर नहीं सत्य त्यागा,
विरह की तपन से सुभग प्राण त्यागे।

उन्ही सत्यव्रत के युगल हम तनय है,
स्वकर्तव्यरत हम सदा धर्मरत हैं।
पिता ने हमें दी यही थी सुआज्ञा,
कि मैं वन वसूँ तुम करो राज्य शासन।

उसी पितृ आज्ञा का पालन करें हम,
अनुज और अग्रज स्वकर्तव्यरत हम ।
पिता अब नही पर निभायें सुव्रत हम,
भले ही अवधि यह रहे कष्टप्रद प्रिय !

अनुज तुम अनुज ही नहीं मम हृदय हो,
बँटाते रहो वह कि जो भावगत है ।
सँभाले रहो बन्धु शासन अवध का,
निभाते रहो सत्यव्रत तुम पिता का ।''

सुना यह भरत ने कि रोये बहुत फिर
धरा धैर्य भारी निवेदन किया फिर,
कि ''चौदह वरस की अवधि प्रभु बहुत है,
नही कट मकेगी निरालम्ब मुझसे ।

पिता की सुआज्ञा नही जानता मैं,
नहीं था अवध में जो तब मानता मैं ।
तुम्हारी सुआज्ञा शिरोधार्य अब है,
अवधि भर अवध में रहूँगा सुप्रभु मैं ।

अवधि वीतने पर अगर प्रभु न आये,
चरण की शपथ प्राण तन में न पायें ।
जलेगी भरत की चिता तब अवध में,
सुप्रभु की शरण है भरत प्राण-पण से ।''

सुप्रभु राम ने तब भरत को सँभाला,
उफनते हुये ज्वार को था सँभाला ।
भरत-प्रेम-कर्तव्य को फिर सराहा,
प्रजा ने महत् त्याग को था सराहा ।

भरत ने कहा, "देव ! अवलम्ब दे दे,
चरण लख सकूँ राम ! आधार वह दें ।
अवधि कट सकेगी उसी के सहारे,
अवध राज्य सँभले उसी के सहारे ।"

भरत का सुआग्रह नहीं टाल पाये,
मृदुल उर कृपानिधि विवश से दिखाये ।
सकुच कर सुप्रभु ने चरण-पादुका दी,
भरत ने उठा शीश पर वे धरा थी ।

चरण पीठ प्रभु के भरत प्राण-निधि थे,
सियाराम मानों रहे फिर अवध थे ।
युगल पीठ मानों युगल मूर्ति ही थी ,
सुदृढ़ भक्ति तप की युगाधार वे थीं ।

जनक ने कहा भ्रात हो तो भरत सा,
सुगुरू ने कहा प्रेम-पण हो भरत सा ।
कहा गाधिसुत ने भरत भक्ति-रस है,
कहा मन्त्रिगण ने भरत नीतिनय हैं ।

कहा कौसिला ने भरत त्यागमय है,
लखन मातु बोली तपस्या निरत हैं,
"भरत धन्य है" यह कहा सब प्रजा ने,
ध्वनित "धन्य" था उस समय भू गगन में ।

दृढ़ालम्ब मर्याद श्री राम की अब
उरों में बसी धर्मध्वज सी बनी अब ।
सुव्रत को सराहा सभी ने सुप्रभु के,
गुणों को सराहा जनक और गुरू ने ।

कहा फिर प्रजा ने कि स्वामी सुदृढ़ है,
कहा कोसिला ने कि करूणा मृदुल है ।
कहा कैकई ने मही सी क्षमा है,
सकल तापहारी कृपाकर सदय है ।

विदा ले चले धाम को थे सभी अब,
जनक से सुज्ञानी जननि और गुरु सब ।
विदा ली सिया ने सुनयना जननि से,
प्रेम की मूर्ति सी सास भगनी सभी से ।

भरत राम ने जब विदा ले रहे थे,
कि जड़ और चेतन हुए सब द्रवित थे ।
चले अति विवश वे सुकर्तव्यरत थे,
कि धर्मज्ञ अब वे कठिन व्रत निरत थे ।

पहुँचकर अयोध्या जनकराज ने फिर,
सुशासन व्यवस्था बनाई सुदृढ़तर,
सकल राज का काज देकर भरत को,
चले सौम्य मिथिलाधिपति निज नगर को।

नन्दिग्राम में पर्णकुटी रच,
बैठे भरत सनेही,
राम सदृश ही जटाजूट सिर,
चीर वसन वैसे ही।

कुश की साथरि रची भूमि पर,
एक बार फल-भोजन,
ऋषिचर्या के नियम तथा व्रत,
सकल सुदृढ़ वैसे ही।

प्रभु पाँवरि की पूजा नितकर,
उन्हें निवेदित कर सब,
राज-काज करते हो निस्पृह,
न्याय-धर्म से बँधकर।

जो वैभव सुरपुर से बढ़कर,
मनहर था सुखकारी,
तजा उसे तृण सदृश भरत ने,
बने पुण्ययश भागी।

कितनी लम्बी कठिन प्रतीक्षा
उनका भाग्य बनी है !
कैसी दुखमय धैर्य परीक्षा
उनकी आन पड़ी है !

जिसके लिए त्यागकर सर्वस
तपमय व्रत धारा है,
उसी प्राणप्रिय प्रभु से विरहित
जीवन बेचारा है ।

चौदह वर्ष वने शत युग से
कैसे समय कटेगा ?
जीव कही जीवन को तजकर
वन में जा विचरेगा ।

नही नहीं, वे चरण-पादुका
प्रहरी वन जायेंगी,
तात भरत को राम-मिलन का
सुख यह दिलवायेंगी ।

—०—